संपादक

राज कपिला

उमा कपिला

सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक : सत्साहित्य प्रकाशन, 205 बी चावड़ी बाजार, दिल्ली-110006
 / संस्करण : प्रथम, 2002 / मूल्य : दो सौ रुपए
मुद्रक : नरुला प्रिंटर्स, दिल्ली
अनुवाद : अलका कौशिक

BHARATIYA ARTHNEETI Ed Raj Kapila & Uma Kapila
(Hindi Edition of 'India's Economy in 21st Century' published by Academic Foundation, Delhi)
Rs 200 00
ISBN 81-7721-037-8
Published by Satsahitya Prakashan, 205-B Chawri Bazar, Delhi-110006

भारत की अर्थव्यवस्था के विकास
में कार्यरत
समस्त कर्तव्यपरायण लोगों को
सादर समर्पित

अनुक्रम

भारतीय अर्थव्यवस्था 1950-2000-2020

—वाई.वी. रेड्डी

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, सन् 1950 मे योजना शुरू होने से लेकर सन् 1990 मे खाडी संकट आरभ होने तक की अवधि में, आजादी से पहले अर्थव्यवस्था की स्थिति की तुलना में व्यापक सुधार हुए। अलबत्ता, प्रोत्साहनों और संस्थागत संरचनाओ मे कुछ अभाव भी रहे, जिनसे बचा जा सकता था। इसी प्रकार बीच-बीच मे सूखे की स्थिति, युद्ध और तेल सकट से भी जूझना पड़ा। हमारी अर्थव्यवस्था नब्बे के दशक मे छाए गहरे सकट से तेजी से उबरी और विकास के स्तर तथा आघात झेलने की इसकी क्षमता में नाटकीय रूप से प्रगति हुई; लेकिन आजादी के पचास साल बाद भी गरीबी से निपटने की चुनौती आज भी एक गंभीर समस्या बनी हुई है।

नई सदी मे प्रवेश करते हुए हमे ईमानदारी से यह आकलन करना होगा कि विकास, स्थिरता और गरीबी सरीखे सकेतकों के आईनों मे हम दूसरे देशो की तुलना मे कहाँ हैं? इसके लिए हमें अपनी अर्थव्यवस्था के इतिहास को मौजूदा सदर्भों के साथ रखकर देखना होगा।

आजादी से पूर्व

अर्थव्यवस्था की वर्तमान स्थिति को समझने के लिए सन् 1900-47 की अवधि का अध्ययन करना जरूरी है। बीसवीं शताब्दी मे आजादी से पहले अर्थव्यवस्था की स्थिति को समझने के लिए शिवसुब्रह्मण्यन (1998) द्वारा उद्घाटित तथ्यो पर विचार करने की आवश्यकता है।

सबसे पहले सकल घरेलू उत्पाद (जी डी.पी.) को देखें, जो वास्तव में देश की भौगोलिक सीमाओ के भीतर उत्पादित सभी वस्तुओं तथा सेवाओं का कुल जोड़ है। उस दौर मे जी डी पी में मात्र 0.9 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई, लेकिन प्रति व्यक्ति और भी कम रफ्तार, मात्र 0 1 प्रतिशत की औसत दर से

वृद्धि हो सकी। सन् 1900-01 में जी.डी.पी. प्रति व्यक्ति 224 रुपए रहा, देश के स्वतंत्र होने से कुछ ही समय पहले यह आँकड़ा मामूली रूप में बढ़कर 233 रुपए तक पहुँचा।

विकास की इस मामूली रफ्तार में भी लंबे वर्षों से अकाल, सूखे और महामारी के चलते कई रुकावटें आईं। कुल मिलाकर 47 वर्षों में से 17 वर्ष आमतन जी.डी.पी. में और 26 वर्ष प्रति व्यक्ति जी.डी.पी. में गिरावट दर्ज की गई।

सन् 1920 के बाद महामारी पर कुछ हद तक काबू पा लिया गया और स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार भी हुआ। सन् 1911 में शिशु मृत्यु-दर प्रति 1,000 पर 205 थी, जबकि सन् 1946 में यह घटकर 136 रह गई। शताब्दी के शुरू में प्रत्येक भारतीय के औसतन 23.8 वर्षों तक जीवित रहने की संभावना थी और सन् 1951 तक आते-आते यह आँकड़ा बढ़कर 32.1 वर्षों तक पहुँच गया।

शताब्दी के दूसरे दशक में प्रत्येक भारतीय के लिए प्रतिदिन औसतन 535 ग्राम भोजन ही उपलब्ध था। यह उपलब्धता सन् 1950 में घटकर 408 ग्राम प्रतिदिन रह गई।

सन् 1901 में प्रति 100 भारतीयों में से 94 व्यक्ति पढ़-लिख नहीं सकते थे। सन् 1941 में यह संख्या घटकर 85 रह गई।

निस्संदेह निर्माण-क्षेत्र ने 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से विकास किया। भारतीय रेलवे की मालवाहन और यात्रियों को लाने-ले जाने की क्षमता छह गुना बढ़ गई। संचार तथा सरकारी सेवाओं में भी सामान्य रूप से वृद्धि जारी थी। चूँकि अर्थव्यवस्था मूलतः कृषि-प्रधान थी। इसलिए इन क्षेत्रों में प्रगति का कोई विशेष प्रभाव देश की स्थिति पर नहीं पड़ा।

आजादी के बाद : 1950-1990

अर्थव्यवस्था को आजादी पूर्व की मंदी की स्थिति से उबारने के लिए आजादी के बाद देश में नियोजित आर्थिक विकास की महत्त्वाकांक्षी योजना शुरू की गई। उस समय देश दूसरे महायुद्ध और बँटवारे की त्रासदी झेलने के साथ-साथ प्रशासनिक तथा राजनीतिक तंत्र को मजबूत करने की चुनौतियों से भी जूझ रहा था। इन जटिल चुनौतियों के अलावा देश को साठ और सत्तर के दशक में सूखे एवं युद्ध तथा सत्तर एवं अस्सी के दशक के शुरुआती वर्षों में तेल संकट का भी सामना करना पड़ा। अर्थव्यवस्था का आकलन करते समय इन तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है।

आजादी पूर्व के युग में वार्षिक जी.डी.पी. दर 0.9 प्रतिशत से बढ़कर 4 प्रतिशत तक हो गई, लेकिन विकास-दर में महत्त्वपूर्ण वृद्धि अस्सी के दशक में ही दर्ज की गई। दरअसल, अस्सी के दशक में औसत वार्षिक विकास-दर 5.9 प्रतिशत थी, जो उस समय की विश्व की विकास-दर 3.3 प्रतिशत, विकासशील देशों की 4.3 प्रतिशत और चीन तथा भारत को छोड़कर शेष एशियाई देशों की 5.1 प्रतिशत की दर से बेहतर रही।

दूसरे, आजादी पूर्व अर्थव्यवस्था के प्रदर्शन की तुलना में उतार-चढ़ाव कुछ कम थे और संकट के चार वर्षों के बावजूद सभी वर्षों के दौरान जी.डी.पी. की विकास-दर में निरंतरता बनी रही।

हालाँकि स्वतंत्रता पूर्व की तुलना में विकास-दर में उल्लेखनीय सुधार हुआ; लेकिन जनसंख्या में प्रतिवर्ष औसतन 2 प्रतिशत की वृद्धि होते रहने से प्रति व्यक्ति जी.डी.पी. में हर वर्ष 2 प्रतिशत की ही बढ़ोतरी हो सकी। अलबत्ता, स्वतंत्रता-पूर्व के मुकाबले यह विकास बीस गुना था। दरअसल, अस्सी के दशक में प्रति व्यक्ति जी.डी.पी. 3.5 प्रतिशत से अधिक रही।

जहाँ एक ओर स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले भोजन-उपलब्धता में गिरावट दर्ज की गई, वहीं आजादी के बाद जनसंख्या-वृद्धि के बावजूद भोजन उपलब्धता सन् 1951 में 395 ग्राम प्रतिदिन के आँकड़े को पार कर 510 ग्राम प्रतिदिन हो गई थी।

कृषि के क्षेत्र में भी काफी विकास हुआ और इसकी दर 2.5 प्रतिशत रही, जबकि हरित-क्रांति के बाद यह बढ़कर 3 प्रतिशत हो गई। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह रही कि यह क्षेत्र काफी हद तक मानसून की मनमानी से मुक्त हो चला था।

उद्योग जगत् में हर वर्ष औसतन 5.5 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई। बड़े स्तर के और भारी उद्योगों की स्थापना से औद्योगिक विकास में तेजी आई, जिससे टिकाऊ औद्योगिक विकास की आधारशिला मजबूत हुई। इसी प्रकार सेवा-क्षेत्र भी 5 प्रतिशत की दर से व्यापक हुआ और सत्तर के दशक के उत्तरार्द्ध से ही इसकी विकास-दर लगभग 6 प्रतिशत रही। जी.डी.पी. की क्षेत्रवार संरचना में धीरे-धीरे बदलाव आता रहा। पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि-क्षेत्र का जी.डी.पी. से योगदान आधे से अधिक रहा था, लेकिन अस्सी के दशक के अंत तक आते आते यह लगभग एक-तिहाई रह गया। दूसरी तरफ सेवा-क्षेत्र का योगदान एक तिहाई से बढ़कर दो-तिहाई से अधिक हो गया। इसी प्रकार उद्योग जगत् का योगदान भी लगभग 15 प्रतिशत से बढ़कर एक-चौथाई तक जा पहुँचा।

आजादी के बाद की अवधि में बचत (जी.डी.पी. के अनुपात) में भी भारी

वृद्धि दर्ज की गई। पहले डेढ़ दशक में 1 9 प्रतिशत के मुकाबले अस्सी के दशक मे बचत-दर 20 प्रतिशत से कुछ अधिक रही। इसी अवधि में बचत दर भी 13 7 से बढ़कर 22 5 प्रतिशत हो गई।

मुद्रास्फीति के रिकॉर्ड के आईने में देखे तो आजादी के बाद पहले दशक में मूल्यवृद्धि कम, यानी 1 2 प्रतिशत रही। बाद मे साठ के दशक मे यह बढ़कर 6 3 प्रतिशत और सत्तर के दशक मे 9 प्रतिशत हो गई। अस्सी के दशक में यह आँकड़ा लगभग 8 प्रतिशत रहा।

हालाँकि स्वतत्रता पूर्व की स्थिति की तुलना मे विकास के उपर्युक्त संकेत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप मे गिने जाते है, लेकिन इसके बावजूद देश उन लक्ष्यों को हासिल करने मे असफल रहा है, जो उसने अपने विकास के लिए सुनिश्चित किए थे। कम-से-कम पाँच क्षेत्रो मे इस तथ्य को आसानी से रेखांकित किया जा सकता है—

पहला—आय के मोरचे पर औसत वास्तविक प्रति व्यक्ति आय को सत्तर के दशक के अंत तक दोगुना करने का लक्ष्य अस्सी के दशक के अंत में हासिल किया जा सका था।

दूसरा—आर्थिक विकास के बावजूद गरीबी की समस्या 2,400 ग्रामीण क्षेत्रों तथा 2,100 शहरी क्षेत्रों मे काफी हद तक सिर उठाए हुए है। कैलोरी की प्रतिदिन की न्यूनतम आवश्यकता को जुटाने के लिए जरूरी खर्च वहन करने मे असमर्थ व्यक्ति को 'गरीब' के रूप मे परिभाषित किया जाता है।

तीसरा—सन् 1990 तक भी देश की आधी आबादी को हम साक्षर नही बना पाए थे। सन् 1989-90 मे प्रति 46 छात्रो पर केवल एक प्राथमिक विद्यालय अध्यापक उपलब्ध था।

एक और तथ्य, जो महत्त्वपूर्ण है, यह है कि स्वतंत्रता पूर्व शिशु मृत्यु दर प्रति 1,000 पर 136 थी, जो सन् 1990 में घटकर प्रति 1,000 पर 80 रह गई। सन 1990 में जीवन-संभाव्यता औसतन 60 वर्ष थी। 1989-90 मे देश की एक चौथाई आबादी की पहुँच शुद्ध पेयजल तक नहीं थी और 87 प्रतिशत लोगों को स्वच्छता की सुविधा का लाभ नहीं मिल रहा था। अस्सी के दशक के बाद के वर्षो मे प्रति 2,520 भारतीयों पर केवल 1 चिकित्सक और औसतन 1,700 भारतीयो पर महज 1 नर्स उपलब्ध थी।

उधर बाहरी क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनने की हमारी भरपूर कोशिशों के बावजूद भुगतान संतुलन को लेकर कई बार दबावो का सामना करना पड़ा है। पहले दो

दशकों तथा नब्बे के दशक के पहले 5 वर्षों के दौरान अमेरिका को होनेवाले निर्यात में बढ़ोतरी 5 प्रतिशत से नीचे रहा, जबकि आयात में तेजी से वृद्धि हुई सातवें दशक में तथा आठवें दशक के बाद के वर्षों में ही निर्यात के क्षेत्र में देश अपने पुराने रिकॉर्ड को पीछे छोड़ने में कामयाब हो सका; लेकिन सातवें दशक में ही आयात ने निर्यात को पीछे धकेला था। अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य में उस दौर में देश हाशिये पर चला गया। दरअसल, पचास के दशक के शुरू में भारत का निर्यात विश्व निर्यात का 2 प्रतिशत रहा था, जबकि आठवें दशक के अंत में यह महज 0 5 प्रतिशत रह गया।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि पिछली अवधि के मुकाबले अर्थव्यवस्था का प्रदर्शन कुल मिलाकर उल्लेखनीय अवश्य था, फिर भी चुनौतियों से निपटने में यह पूरी तरह सक्षम नहीं थी और अस्सी के दशक के आखिरी वर्षों में तो यह विकास के अनुकूल भी नहीं रह गई थी।

विकास-संकेतक बताते हैं कि आजादी से लेकर सन् 1990 तक की अवधि में भारतीय अर्थव्यवस्था ने आठवें दशक के दौरान सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन किया लेकिन तब भी उसके सामने संरचनात्मक असंतुलन को लेकर चुनौतियाँ थीं। ये चुनौतियाँ संरचनात्मक गैर लचीलेपन, देश-विदेश में प्रतियोगिताओं का अभाव, सार्वजनिक क्षेत्रों के उपक्रमों के घटिया प्रदर्शन, वित्तीय समझ की कमी तथा उत्पादकता संबंधी लाभों के अनुपात में प्रोत्साहित करनेवाली ढाँचागत सुविधा के उपलब्ध नहीं होने के कारण पेश आईं।

इस अवधि में सरकारी खर्च में बढ़ोतरी ने विकास को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया और इसी के समानांतर वित्तीय घाटा सातवें दशक में जी.डी.पी के 4 प्रतिशत के आँकड़े को तेजी से पार करता हुआ संकटकालीन सन् 1991 में 8.33 प्रतिशत तक पहुँच गया। समस्या केवल वित्तीय घाटे को लेकर नहीं थी, बल्कि राजस्व घाटे की भी थी, क्योंकि ऋण लेकर जिन सार्वजनिक उपक्रमों को स्थापित किया गया था, उन्होंने पर्याप्त लाभ देना शुरू नहीं किया था। अधिक वित्तीय घाटे का असर अस्सी के दशक में चालू खाता घाटे के रूप में सामने आया, जो सन् 1991 में सर्वाधिक, जी.डी.पी. का 3.2 प्रतिशत रिकॉर्ड किया गया। बाहरी ऋण से भी व्यावसायिक आधार पर निपटने के उपाय किए गए। आठवें दशक में विकास की अधिक दर को कुछ हद तक, आंतरिक तथा बाहरी ऋण में वृद्धि से लाभ पहुँचा; परंतु खाड़ी संकट से सन् 1991 में उपजे जबरदस्त भुगतान संतुलन के कारण अर्थव्यवस्था में व्यापक सुधार-कार्यक्रम अपरिहार्य बन गए।

खाड़ी संकट और सुधार : 1990-2000

सन् 1991 के भुगतान संतुलन के बाद अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्र में व्याप्त सरचनात्मक गैर लचीलेपन को समाप्त करने के लिए अनेक उपाय किए गए। उदाहरण के तौर पर, बाजारों की कार्यकुशलता में सुधार लाने के उद्देश्य से औद्योगिक लाइसेंसिग को समाप्त कर दिया गया। वित्तीय क्षेत्र में व्यापक सुधार किए गए और विनियमन तथा निरीक्षण की अधिक कारगर प्रणाली शुरू की गई। बाहरी क्षेत्र में सावधानीपूर्वक उदारीकरण की प्रक्रिया अपनाई गई। वित्तीय लेन देन का असर वित्तीय क्षेत्र पर जिस प्रकार पड़ता है, उसमें भी परिवर्तन किया गया है, ताकि घाटे के मौद्रीकरण को नियंत्रण में रखा जा सके, जिससे केन्द्रीय बैंक को मौदिक नीति लागू करने में सुविधा रहे। इन उपायो का प्रमुख लक्ष्य घरेलू और अतरराष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतियोगिता को बढ़ावा देना था। हालाँकि वृहद् आर्थिक परिदृश्य मे इनसे कुछ सकारात्मक बदलाव अवश्य देखे गए हैं, लेकिन साथ ही कई तरह की चिताऍ भी व्यक्त की गई हैं।

सबसे पहले तो यह कि नौवे दशक में जी डी.पी की वार्षिक विकास दर लगभग 6 1 प्रतिशत रही। सुधार के बाद की अवधि मे अर्थात् संकट और समायोजन के वर्षो को छोड़कर (1991-92 तथा 1992-93) जबकि विकास की दर कम रही, विकास-दर आठवें दशक के ऑकड़े 5.9 प्रतिशत के मुकाबले 6.8 प्रतिशत दर्ज की गई।

दूसरे, जी डी.पी विकास में उतार-चढाव न्यूनतम रहा और खाड़ी संकट के वर्ष अर्थात् सन् 1991-92 के अलावा शेष सभी वर्षो के दौरान जी.डी.पी का विकास-दर 5 प्रतिशत से अधिक रही। यहाँ उल्लेखनीय है कि घरेलू मोर्चे पर अभूतपूर्व राजनीतिक अनिश्चितता और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिबंध, व्यापार विवाद, एशियाई संकट, तेल के दामों में वृद्धि आदि सकटों के बावजूद विकास की यह गति न्यूनाधिक रूप मे बनी रही। इसी प्रकार, कृषि उत्पादन मे उतार-चढ़ाव भी सामान्य रहा। उधर नौवे दशक के दौरान प्रति व्यक्ति जी डी पी 4 25 प्रतिशत की औसत वार्षिक-दर से बढी।

यह तथ्य भी गौर करने लायक है कि सुधारोपरांत सभी वर्षों में सकल घरेलू बचत का ऑकडा जी डी पी के हिसाब से 22 प्रतिशत को पार कर गया, जबकि पिछले 40 वर्षो में केवल दो अवसरों पर ही ऐसा हुआ था। वास्तव मे, अनेक अवसर ऐसे भी आए, जब यह आँकड़ा 25 प्रतिशत के काफी नजदीक पहुँच गया या इसे पार कर गया। इसी प्रकार, जी डी.पी. की प्रतिशत के हिसाब से देखा जो

सकल घरेलू निवेश भी कई बार 26 से 27 प्रतिशत तक हो गया, जबकि पिछले 40 वर्षों के दौरान केवल दो अवसरों पर यह 24 प्रतिशत को पार कर सका था।

दूसरी ओर, सन् 1990–98 की अवधि में मुद्रास्फीति की औसत वार्षिक दर 8.9 प्रतिशत तक बढ़ी, जो आठवें दशक की 8 प्रतिशत की औसत वार्षिक दर से अधिक थी। अलबत्ता, सन् 1998-99 तथा सन् 1999-2000 के दौरान मूल्य वृद्धि की दर काफी हद तक धीमी रही।

बाहरी क्षेत्र में बाहरी ऋण और जी डी पी अनुपात सन 1991–92 के 41 प्रतिशत के मुकाबले घटकर सन् 1998–99 में 23 5 प्रतिशत हो गया। सन् 1990 99 के दौरान वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात की वार्षिक औसत विकास-दर 11 3 प्रतिशत थी, जो अस्सी के दशक की 8.1 प्रतिशत की दर से कहीं अधिक है। खाड़ी संकट के बाद के सभी वर्षों में चालू लेखा खाता (सी ए डी.) का औसत जी डी पी के 2 प्रतिशत से कम रहा। सन् 1998-99 में तो यह जी.डी पी. का मात्र 1 प्रतिशत दर्ज किया गया। यहाँ यह बात गौर करने लायक है कि इसी अवधि में सोना समेत अन्य क्षेत्रों में भी आयात में उदारीकरण की प्रक्रिया लागू की गई और आयात-निर्यात शुल्क में भी भारी कमी की गई।

इस प्रकार नौवें दशक में देश ने 30 अरब अमेरिकी डॉलर से अधिक विदेशी मुद्रा का भंडारण किया और बाहरी ऋण में कमी आई। व्यापार में उदारीकरण का दौर जारी रहा और जी डी पी. में अधिक विकास-दर भी कायम रही।

हमने भले ही अर्थव्यवस्था में काफी सुधार महसूस किए हैं, लेकिन आर्थिक विकास के महत्त्वपूर्ण पक्ष, यानी सामाजिक पहलू पर भी गौर करना जरूरी है।

राष्ट्रीय सामाजिक सेवा (एन एस एस) के सर्वेक्षण के अनुसार सुधारों की इस पृष्ठभूमि में, यानी सन् 1997 में एक-तिहाई आबादी अपने लिए प्रतिदिन की आवश्यकतानुसार न्यूनतम कैलोरी जुटाने में असमर्थ थी।

दूसरे, सन् 1990–96 में प्रति 100 भारतीयों में से 19 को शुद्ध पेयजल उपलब्ध नहीं था और 84 की पहुँच स्वच्छता सुविधाओं तक भी नहीं थी।

इसी प्रकार सन् 1990 की तुलना में इस दशक के आखिरी वर्षों में प्रति 1,000 पर 70 की शिशु मृत्यु-दर, 63 वर्ष की जीवन संभाव्यता और प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 2,496 कैलोरी की आपूर्ति का आँकड़ा देखते हुए कोई विशेष सुधार नहीं माना जाएगा।

दूसरी तरफ इस बात के भी प्रमाण मिले हैं कि अधिक विकास-दर कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित है, जबकि अन्य क्षेत्रों में विकास का न्यून स्तर ही कायम है।

सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह हे कि सपूण सावजनिक क्षत्र अथात् सरकार एव सार्वजनिक उपक्रमों की बचत लगभग शून्य है। सरकार द्वारा लिये गए ऋण की मात्रा तथा जिस दर पर यह ऋण लिया गया है, दोनो ही अधिक हैं। उधर वित्तीय स्थिति, विशेषकर कुछ राज्यो की, चिंता का विषय बनी हुई ह।

संक्षेप में हम कह सकते है कि नौवे दशक के दौरान विकास तथा स्थिरता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सुधार हुए और बाहरी क्षेत्र में भी देश की स्थिति सुधरी परतु गरीबी और सामाजिक कल्याण से जुडी कई चिंताएँ बनी हुई है। यह बात दीगर है कि एक दशक पहले तक 5 प्रतिशत की जो विकास-दर एक किस्म की उपलब्धि समझी जाती थी, वह अब नीति की विफलता का सूचक मानी जाती है। इससे प्रमाणित होता है कि पहले की तुलना में उम्मीदें बढ गई है।

अंतरराष्ट्रीय संदर्भ में भारत की स्थिति

वरीयता तय करनेवाली विभिन्न अतरराष्ट्रीय एजेंसियो द्वारा वरीयता क्रम सुनिश्चित करने के लिए कवायदें जारी हैं और कई संकेत भी तैयार किए गए हैं। भूमडलीकरण के सदर्भ मे इन सकेतकों का महत्त्व बढा है। मोटे तौर पर इन सकेतकों को चार श्रेणियों में बाँटा गया है—

1 आर्थिक सकेतक,
2 सस्थागत संकेतक,
3 संरचनात्मक संकेतक तथा
4. सामाजिक संकेतक।

उपलब्धता और प्रासंगिकता के लिहाज से किया गया यह चयन किसी भी मायने में अंतिम नहीं है। दुनिया भर के कुल नौ राष्ट्रों को ऐसे आधार के रूप में माना गया है, जो विभिन्न देशों की भौगोलिक स्थिति, उनकी आय के स्तरों में व्याप्त अंतर, अर्थव्यवस्था के आकार आदि का समुचित प्रतिनिधित्व करते हैं। ये देश हैं—भारत, सिंगापुर, चीन, पाकिस्तान, श्रीलंका, दक्षिण अफ्रीका, मैक्सिको, अमेरिका तथा जापान।

आर्थिक संकेतक

आर्थिक संकेतकों के अंतर्गत आय का स्तर और अवधि-विशेष के दौरान इसके विकास, बचत तथा निवेश-दर के अनुसार इसके विकास करने की क्षमता, बाहरी क्षेत्र का प्रदर्शन आदि शामिल हैं।

स्पष्ट रूप से भारत की अर्थव्यवस्था काफी बडी है आकार की दृष्टि से इसका विश्व में ग्यारहवाँ तथा माप के मुताबिक तीसरा स्थान है। अलबत्ता, प्रति व्यक्ति आँकड़ों के लिहाज से भारत दुनिया के निचले राष्ट्रों की श्रेणी मे है। सन् 1999 में भारत का सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.डी.), जो दरअसल भारतीय नागरिकों को प्राप्त होनेवाली सभी प्रकार की आय का कुल योग है, 442 2 अरब अमेरिकी डॉलर रहा। विश्व मे यह ग्यारहवें स्थान पर था। इस प्रकार प्रति व्यक्ति जी एन पी 450 अमेरिकी डॉलर है। इस हिसाब से हमारा स्थान दुनिया मे 162वें क्रम पर है, जो निस्संदेह हमारी श्रेणी के नौ राष्ट्रों के समूह में हमें काफी नीचे खडा करता है। चूँकि जी एन पी की यह गणना बाजार विनिमय-दर के हिसाब से की जाती है। इसलिए कुछ विश्लेषकों ने इस विधि पर इस आधार पर आपत्ति की है कि तुलनात्मक वस्तुओं के मूल्यों मे उन देशों में अंतर हो सकता है, जो इनका आपसी व्यापार नहीं करते। इन अतरो के समायोजन के बाद 'क्रय-शक्ति समानता' (पी पी पी.) के आधार पर मापी गई जी.एन पी हासिल होती है। इस प्रकार भारत की जी एन.पी. बढ़कर 2144 1 अरब अमेरिकी डॉलर हो जाती है, जो दरअसल अमेरिका के बाद दूसरे स्थान पर है। इसके बावजूद भारत को दुनिया भर के देशों की वरीयता सूची में 153वे स्थान पर रखा गया है, जो इन नौ अन्य देशों के समूह मे वह केवल एक देश से ऊपर है।

यहाँ विचारणीय यह है कि भारत का विकास प्रभावशाली रहा है। दरअसल, आठवे और नौवें दशक मे तो इसकी जी डी पी की औसत वार्षिक विकास-दर सिंगापुर और चीन सरीखे देशों के समान रही थी, लेकिन पिछले दो दशकों मे जी डी.पी की अधिक विकास-दर के बावजूद प्रति व्यक्ति जी.एन पी. की दृष्टि से भारत का स्थान काफी पीछे है। हमारी आबादी का आकार और इसकी वृद्धि-दर तथा हमारी आय के सीमित आधार इसके लिए प्रमुख रूप से दोषी हैं।

सन् 1997-99 के दौरान बचत तथा निवेश-दर क्रमशः 20 3 और 23 9 प्रतिशत रही, जो कई विकासशील एवं विकसित देशों की दर से बेहतर है; लेकिन अधिक विकास-दर दरशानेवाले देशों, जैसे—सिंगापुर (बचत-दर 51.4 प्रतिशत तथा निवेश-दर 34.5 प्रतिशत) और चीन (बचत-दर 42.5 प्रतिशत तथा निवेश-दर 38 8 प्रतिशत) की तुलना में ये दरें काफी कम हैं। भारत में लगभग संपूर्ण बचत घरों और निजी क्षेत्र से आती है। सन् 1993-94 के दौरान सार्वजनिक क्षेत्रों की बचत मात्र 1 प्रतिशत रही। उल्लेखनीय है कि भारत में बचत का स्तर कम होने का मुख्य कारण सरकारी बचत का राजस्व घाटे के चलते नकारात्मक होना है।

यह बात भी गौर करने लायक है कि नौवें दशक के दौरान वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात में 11 3 प्रतिशत की ओसत वार्षिक वृद्धि दर्ज की गई थी, जो दरअसल, चीन (13 प्रतिशत), मेक्सिको (14 3 प्रतिशत) आदि बेहतरीन प्रदर्शन करनेवाले कुछ ही देशों से कम थी। सन् 1998 में बाहरी ऋण तथा जी डी पी का अनुपात 23 प्रतिशत रहा, जो पाकिस्तान, श्रीलंका, मेक्सिको सरीखे देशों से भी काफी कम था।

1990 के दशक मे भारत में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (एफ डी आई) के प्रवाह में भी तेजी आई। सन् 1998 मे यह आँकड़ा 2 अरब 26 करोड़ अमेरिकी डॉलर तक जा पहुँचा। इस प्रकार सर्वाधिक एफ डी.आई प्राप्त करनेवाले 20 विकासशील देशो की सूची मे भारत का भी नाम शामिल हो गया। इसके बावजूद सिंगापुर (7 अरब 22 करोड़ अमेरिकी डॉलर), चीन (45 अरब 5 करोड़ अमेरिकी डॉलर), मेक्सिको (10 अरब 24 करोड़ अमेरिकी डॉलर) आदि देशों की तुलना मे भारत में यह प्रवाह कम ही रहा।

'इंटरनेशनल कंट्री रिस्क गाइड' (आई सी आर जी) द्वारा तैयार जोखिम वरीयता के अनुसार मार्च 2000 मे भारत की जोखिम वरीयता 64 3 रही और इस प्रकार इसका स्थान अपने समूह के दो देशों से ऊपर रहा।

संस्थागत निवेशकों की (ऋण-साख) क्रेडिट रेटिंग के मामले में भी कमोबेश यह बात सच है, जिससे ज्ञात होता है कि कोई देश अदायगी में चूक कर सकता है।

भूमंडलीकरण के संदर्भ में ऐसा माना जाता है कि प्रौद्योगिकी प्रायः विकास को गति प्रदान करती है। इस दृष्टि से यह देखना होगा कि प्रौद्योगिकी के आविष्कार तथा विदेशों से प्रौद्योगिकी आयात करने के मामले मे भारत कितना सक्रिय है, यह भी कि व्यापार स्थापित करने के लिए देश मे माहौल किस हद तक मददगार है। विश्व आर्थिक मच (डब्ल्यू.ई.एफ) ने उपर्युक्त स्थितियों को क्रमशः 'प्रौद्योगिकी सूचकांक' तथा 'स्थापना सूचकांक' का नाम दिया है। इन दोनो सूचकांकों को मिलाने पर 'आर्थिक रचनात्मक सूचकांक' प्राप्त होता है, जो किसी देश के आर्थिक विकास को प्रदर्शित करता है। सन् 2000 में कराए गए 59 देशों के सर्वेक्षण में तीनों सूचकांको की सूची में भारत का स्थान 38वाँ था और वह चीन (48वें स्थान) से आगे रहा। हालाँकि भारत की तुलना में मेक्सिको मे व्यापार-स्थापना का वातावरण कम अनुकूल है और जापान मे यह भारत से कुछ ही बेहतर है, परंतु प्रौद्योगिकी आविष्कार के क्षेत्र में इनकी भागीदारी और फलस्वरूप इनका रचनात्मक सूचकांक भारत से बेहतर है।

विश्व आर्थिक मच ने यह स्पष्ट करने के लिए कि कुछ देश दूसरो की तुलना मे तेजी से आगे किस प्रकार बढ़ रहे हैं, 'विकास प्रतिस्पर्धात्मकता सूचकांक' (जी.सी आई) तैयार किया है, जिसके अंतर्गत किसी अर्थव्यवस्था की प्रति व्यक्ति आय में भविष्य मे होनेवाली वृद्धि को दरशाया जाता है। सन् 2000 में कुल 59 देशों की सूची मे इस आधार पर भारत का स्थान 49वाँ रहा था, जबकि चीन, मेक्सिको तथा दक्षिण अफ्रीका क्रमशः 41वें, 43वें तथा 33वें स्थान पर रहे।

अर्थव्यवस्था के विकास के लिए बृहद् अर्थव्यवस्था सबंधी कारकों के अलावा सूक्ष्म आर्थिक आधार भी जिम्मेदार होते हैं। इसे मापने के लिए विश्व आर्थिक मच द्वारा तैयार प्रतिस्पर्धात्मक सूचकांक (एम.सी.आई.) के आधार पर 58 देशों में भारत का स्थान 42वाँ है। अलबत्ता, वह चीन (49वे स्थान) से आगे है, जबकि मेक्सिको (34वे स्थान) और दक्षिण अफ्रीका (26वे स्थान) पर कहीं आगे हैं।

ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि देश की मौजूदा अधिक उत्पादकता तथा आर्थिक प्रदर्शन को किन कारको से बल मिलता है। विश्व आर्थिक मंच द्वारा इसे 'चालू प्रतिस्पर्धात्मक सूचकांक' (सी.सी आई.) का नाम दिया गया है। सन् 2000 मे इस आधार पर तैयार 58 देशो की सूची में भारत का 37वॉ स्थान था, जो सी सी आई के अनुसार 49वे स्थान से कहीं बेहतर हे। यहाँ दिलचस्प तथ्य यह है कि हमारे देश की सी सी.आई के अनुसार वरीयता चीन (44वीं) तथा मेक्सिको (42वीं) से अधिक रही, जिससे स्पष्ट है कि हमारे वर्तमान विकास को प्रभावित करनेवाले कारक इन देशों के मुकाबले बेहतर हैं। इसके बावजूद वरीयता सूची मे हम निचले स्तर पर ही टिके हुए हैं।

किसी देश के बाजारों के खुलेपन को 'उभरते बाजार सूचकांक' से तय किया जाता है। सन् 2000 में इस वरीयता-क्रम में भारत 46वें स्थान पर था और वह केवल चीन से ही ऊपर था। जहाँ तक शेष विश्व के साथ एकीकृत होने की बात हे तो भारत इस दृष्टि से पिछड़ा ही कहा जाएगा। इसे मापने के लिए प्रयुक्त होनेवाले 'भूमंडलीकरण सूचकांक' के अनुसार सन् 1993-97 के दौरान भारत के संदर्भ मे यह आँकड़ा 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष रहा, जो यकीनन कम कहा जाएगा, लेकिन हमारी अर्थव्यवस्था का 'मदी प्रत्याशा' सूचकांक काफी अधिक रहा है। यह चीन, मेक्सिको, अमेरिका, जापान आदि देशों से भी ऊपर दर्ज किया गया। यह सूचकांक उस भरोसे का संकेतक है, जिसके अनुसार किसी देश के बारे में अनुमान व्यक्त किया जाता है कि उसकी अर्थव्यवस्था में गिरावट नहीं आएगी। इससे स्पष्ट है कि हमारी अर्थव्यवस्था स्थिर है।

संस्थागत संकेतक

सभी प्रकार के आर्थिक लेन-देन और सामाजिक प्रावधान कुछ निश्चित संस्थानों के दायरे मे किए गए हैं। संस्थागत कारकों का मूल्यांकन एक जटिल प्रक्रिया है और वास्तव में यह विधि फिलहाल शैशवावस्था में है। चूँकि अधिकतर ऑकड़े मत-सर्वेक्षणो के माध्यम से इकट्ठे किए गए हैं, इसलिए इनके माध्यम से व्यक्त विचारों को भी अंतिम न मानकर 'तुलनात्मक' ही कहा जाना चाहिए।

'ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशनल' तथा गॉटिन्गन विश्वविद्यालय ने किसी देश के राजनीतिज्ञो तथा सरकारी कर्मचारियों की पारदर्शिता के बारे में वहाँ के व्यावसायिक समुदाय की राय के आधार पर विभिन्न देशों की वरीयता सूची तैयार की है। इस सूचकांक को 'भ्रष्टाचार अवधारणा सूचकांक' नाम दिया गया है। 'ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशनल' द्वारा सन् 1996 मे 54 देशो मे कराए गए सर्वेक्षण के आधार पर भारत को 46वें स्थान पर रखा गया था, अर्थात् तब इन देशों में भारत नवाँ सर्वाधिक भ्रष्ट देश था।

शासन-व्यवस्था के संदर्भ में विश्व बैंक ने अपने प्रकाशन 'इंडिया—रिड्यूसिंग पॉवर्टी, एक्सलरेटिंग डेवलपमेंट (2000)' के अंतर्गत पॉच प्रमुख संकेतकों का जिक्र किया है। ये हैं—

1. सरकारी प्रभावशीलता तथा स्थिरता, जिसके अंतर्गत संस्थागत तथा सरकारी स्थिरता समेत सरकारी नीतियो के प्रति आम जनता में संतोष का भाव शामिल रहता है,
2. कानून की भूमिका तथा व्यापारिक माहौल, जिसके अंतर्गत भ्रष्टाचार, रिश्वत (दलाली), कानून-व्यवस्था, कानूनी अधिकार आदि शामिल हैं;
3. आम जनता का प्रशासन, जिसे नौकरशाही के स्तर, उसकी मजबूती तथा उसमें राजनीतिक हस्तक्षेप की मात्रा एवं जवाबदेही के आधार पर परखा जाता है;
4. सार्वजनिक वित्त, जो अन्य बातों के अलावा बजट की गुणवत्ता, खर्च में कुशलता तथा न्यायोचितता और सार्वजनिक वित्त की प्राप्ति एवं प्रबंधन की दृष्टि से जाँचा जाता है,
5. निष्कर्ष, जिसके तहत अधिकांश सामाजिक सूचकांक, जैसे—गरीबी, मृत्यु-दर, साक्षरता आदि शामिल हैं। सन् 1995 में विभिन्न देशों के 5 समूहों की तुलना में भारत को उपर्युक्त कसौटियों के आधार पर

परखा गया था। ये समूह हैं—विकासशील देश, कुछ चुनिदा बडे देश, जिनमें चीन, मेक्सिको, दक्षिण अफ्रीका, ब्राजील तथा पोलैड हैं दक्षिण-पूर्व एशिया, जिसमें इंडोनेशिया तथा थाईलैड भी शामिल हैं, भारत को छोड़कर दक्षिण एशिया, इंग्लैंड और अमेरिका सरीखे औद्योगिक देश हैं।

सरकार की प्रभावशीलता तथा उसकी स्थिरता के मामले में विभिन्न देशो के सभी समूहो के मुकाबले भारत की स्थिति काफी खराब है।

कानून की भूमिका तथा व्यापारिक वातावरण की दृष्टि से भारत की स्थिति अपने पड़ोसी दक्षिण एशियाई देशों से बेहतर है, लेकिन चुनिदा बड़े देशों तथा औद्योगिक राष्ट्रो की तुलना मे भारत की स्थिति बिलकुल अच्छी नही कही जा सकती।

आम जनता के प्रशासन के मामले में औद्योगिक राष्ट्रों को छोड़कर शेष देशों के सभी समूहो की तुलना में भारत का स्थान बेहतर है।

इसी प्रकार सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र में औद्योगिक राष्ट्र तथा चुनिंदा बडे देश के समूह हमसे आगे हैं, जबकि भारत की स्थिति शेष समूहो से बेहतर है।

सामाजिक-आर्थिक संकेतकों के रूप में सामने आनेवाले निष्कर्षों की दृष्टि से भी सभी समूहो की तुलना में भारत का प्रदर्शन खराब रहा है।

ढाँचागत संकेतक

परिवहन, बिजली, दूरसंचार, पानी, स्वच्छता आदि टिकाऊ आर्थिक विकास के लिए आवश्यक ढाँचागत संरचना के ये महत्त्वपूर्ण आधार हैं। ये सुविधाएँ आर्थिक गतिविधियों के कुशल तथा प्रभावी प्रवाह में सहायक होने के साथ-साथ जीवन के लिए आधारभूत आवश्यकताएँ जुटाती हैं। यहाँ इन सकेतकों के आईने मे भारत तथा अन्य समूहो का तुलनात्मक विश्लेषण किया जाएगा।

सबसे पहले बिजली की स्थिति पर विचार करें। सन् 1997 में भारत में प्रति व्यक्ति बिजली की खपत केवल 363 कि.वा. थी। हालाँकि पाकिस्तान के मुकाबले इसमें भारत की स्थिति बेहतर है; लेकिन अन्य देशो की तुलना में यह अच्छी नही कही जा सकती। चीन में यह खपत भारत की खपत से लगभग दोगुनी है। अन्य दक्षिण एशियाई देशों के नक्शे-कदम पर चलते हुए हमने भी प्रेषण और वितरण की प्रक्रिया में काफी मात्रा में बिजली बरबाद की है। सन् 1997 मे यह 18 प्रतिशत रही, जबकि चीन में यह बरबादी केवल 8 प्रतिशत थी।

सन् 1998 में अच्छी हालत में या पक्की सड़कें केवल 45 7 प्रतिशत थी, उधर पाकिस्तान (57 प्रतिशत) और श्रीलंका (95 प्रतिशत) आदि देश भी इस लिहाज से हमसे आगे हैं।

देश का रेलवे-तंत्र कुल मिलाकर अच्छी स्थिति में है। सन 1998 में प्रति 10 लाख डॉलर जी डी पी. पर रेलवे ने 137 1 हजार टन किलोमीटर माल ढोया। यह आँकड़ा जापान (101.7) से बेहतर है, लेकिन अधिक भौगोलिक क्षेत्र वाले चीन (304 8), दक्षिण अफ्रीका (283.3) आदि देशों की तुलना में यह काफी कम है, जो माल-वाहन के लिए रेलवे-तंत्र का इस्तेमाल करते हैं।

सन् 1997 मे प्रति 1,000 भारतीयों मे से 121 के पास रेडियो सेट था जबकि समूह के केवल एक देश को छोडकर शेष सभी देश इस क्षेत्र में भारत से आगे हैं। श्रीलंका (209) की स्थिति भारत से दोगुनी अच्छी है। इसी प्रकार प्रति 1,000 मे से केवल 68 भारतीयों के पास ही टी.वी. सेट थे। इस मामले में भारत अपने समूह में सबसे पिछडा हुआ था।

सन् 1998 में देश में टेलीफोन की 22 मेन लाइनें थीं। इस मामले में समूह के केवल एक देश से हमारी स्थिति बेहतर थी, जबकि चीन (70) हमसे काफी आगे था। भारत में टेलीफोन कनेक्शन के लिए औसत प्रतीक्षा समय एक वर्ष था। यह स्थिति हमें केवल दो देशों से ही आगे खड़ा करती है, जबकि चीन आदि देश के आगे हम टिक ही नहीं पाते, जहाँ यह समय औसतन एक माह था।

सन् 1998 में देश में प्रति 1,000 पर 2.7 पर्सनल कंप्यूटर (पी.सी.) थे। इस लिहाज से समूह में भारत सबसे पिछड़ा देश था। चीन में यह आँकड़ा 8 9 था जबकि बाकी सभी देश काफी आगे थे। इंटरनेट के मामले में भी स्थिति कमोबेश यही थी। सन् 2000 में प्रति 10,000 पर यह आँकड़ा भारत में 0 23, चीन में 0.57 पाकिस्तान में 0 34 तथा श्रीलंका में 0.63 दर्ज किया गया।

भारत अपने विज्ञानकर्मियों तथा इंजीनियरों की भारी फौज के लिए जाना जाता है। सन् 1987-97 के दौरान प्रति 10 लाख भारतीयों पर 149 व्यक्ति अनुसंधान एवं विकास (आर. एंड डी) गतिविधियों से जुड़े थे। इस क्षेत्र में भी केवल एक देश को छोड़कर शेष सभी देशों की स्थिति हमसे बेहतर है। यदि हम अप्रवासी इंजीनियरों और वैज्ञानिकों को भी इस आँकड़े में शामिल कर लें तो भी स्थिति में कोई सुधार आनेवाला नहीं है। इसी अवधि में कुल निर्मित निर्यात का 5 प्रतिशत प्रौद्योगिकी से संबंधित था। यहाँ भी हम दक्षिण एशियाई पड़ोसी देशों को छोड़कर शेष सभी देशों से पिछड़े हुए हैं।

सुरक्षित जलस्रोत तथा स्वच्छता सबधी सुविधाए लोगो के स्वास्थ्य सुधार से जुड़ी बुनियादी ढाँचागत आवश्यकताएँ हैं। सामाजिक संकेतक के अंतर्गत हम पढेगे कि इस मोरचे पर भी भारत का प्रदर्शन खराब रहा है।

उपर्युक्त ढॉचागत संकेतकों को जानने के बाद इस बारे में कोई आश्चर्य नही रह जाता कि विश्व आर्थिक मंच ने सन् 1998 के ग्लोबल कपीटीटिवनेस रिपोर्ट मे 53 देशों के समूह के सर्वेक्षण (ढॉचागत संदर्भो में) के बाद भारत को 53वें स्थान पर रखा था।

सामाजिक संकेतक

सामाजिक संकेतकों के अतर्गत भोजन, आवास और कपड़े के साथ-साथ लोगो का ज्ञान और उनका स्वास्थ्य भी शामिल है। हमारे समूह के देशो के बीच इनमें से कुछ संकेतको की तुलना 'मानव-विकास सूचकांक' तथा 'मानव-गरीबी सूचकांक' के साथ करने पर प्राप्त निष्कर्षो से बहुत कुछ अपने आप स्पष्ट हो जाएगा।

किसी भी देश का महत्त्वपूर्ण सामाजिक संकेतक उसके लोगो की साक्षरता का स्तर होता है। सन् 1998 में हमारे देश में प्रौढ़ साक्षरता-दर मात्र 55.7 प्रतिशत थी, जो पाकिस्तान (44 प्रतिशत) से भले ही बेहतर रही, मगर श्रीलंका (91 1) और चीन (82.8) के मुकाबले काफी कम थी। युवा साक्षरता की तसवीर भी कमोबेश ऐसी ही है। भारत (71 प्रतिशत) इस क्षेत्र में श्रीलंका (96.5 प्रतिशत) तथा चीन (97 2 प्रतिशत) से काफी पीछे है। यहाँ उल्लेखनीय है कि सन् 1995-97 के दौरान शिक्षा पर सार्वजनिक व्यय जी डी.पी का 3 2 प्रतिशत रहा, जो कई देशो के लगभग बराबर था। साथ ही सन् 1994-97 के दौरान अधिक निरक्षरता-दर के बावजूद शिक्षा-व्यय के दायरे में हमने प्राथमिक-पूर्व, प्राथमिक तथा सेकेंडरी स्तर पर कम, यानी 66 प्रतिशत ही खर्च किया। उधर पाकिस्तान, श्रीलंका आदि देशों ने शिक्षा के इस स्तर पर 3/4 या इससे भी अधिक राशि खर्च की।

शिक्षा के अलावा स्वास्थ्य भी जनता की बुनियादी जरूरत है। हालाँकि सन् 1990-96 के दौरान हमारी 81 प्रतिशत की पहुँच शुद्ध पेयजल स्रोतों तक थी, लेकिन हम केवल तीन देशों की तुलना में ही बेहतर थे। स्वच्छता तक मात्र 16 प्रतिशत आबादी की पहुँच थी और इस मोरचे पर हम समूह के सभी देशो के मुकाबले पिछड़े हुए थे।

सन् 1998 में प्रति 1,000 पर 70 शिशुओं की मृत्यु हुई। इसी प्रकार सन्

1998 में केवल एक देश की जीवन-संभाव्यता भारत (63 वर्ष) से कम थी। सन 1997 में प्रति एक लाख भारतीयों में से 118 3 प्रतिशत लोग क्षय रोग से पीड़ित थे। केवल दक्षिण अफ्रीका (242 7) इस मामले मे भारत से पिछड़ा हुआ था।

सन् 1990–97 के दौरान 33 प्रति नवजात शिशुओ का वजन औसत से कम था। इस मामले में हम पाकिस्तान, श्रीलंका आदि देशों से भी पिछड़े हुए, जो जाएँगे, जहाँ यह आँकड़ा 25 प्रतिशत था।

सन् 1997 मे केवल दो देश ही ऐसे थे, जिन्होंने भारत द्वारा अपने प्रत्येक नागरिक को प्रतिदिन 2496 कैलोरीज की आपूर्ति से भी कम मात्रा मे कैलोरीज उपलब्ध कराई थी। सन् 1997 में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 59 ग्राम प्रोटीन की खपत भी कम रही। सन् 1990–98 के दौरान हमने स्वास्थ्य-सेवाओं पर जी डी पी का महज 0 60 प्रतिशत खर्च किया, जो अन्य देशों के मुकाबले काफी कम है।

सन् 1992–95 के दौरान प्रति एक लाख भारतीयों पर 48 डॉक्टर उपलब्ध थे। इस मामले मे हमारी स्थिति केवल श्रीलका से बेहतर रही।

विश्व बैंक ने बुनियादी मानव–विकास के क्षेत्र में औसत उपलब्धि आँकने के लिए 'मानव–विकास सूचकांक' तैयार किया। इसके अंतर्गत प्रति व्यक्ति जी डी पी सूचकांक, शिक्षा सूचकांक तथा जीवन–संभाव्यता सूचकांक को शामिल किया गया। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सन् 1998 में इस क्षेत्र मे भी पहले दो उप–सूचकांकों में केवल एक देश ही हमसे पीछे रहा, जबकि तीसरे सूचकांक में भी हम केवल एक देश की तुलना में बेहतर स्थिति में थे। इस प्रकार सन् 1998 में 'मानव–विकास सूचकांक' के आधार पर भारत का स्थान 128वाँ था।

प्रगति की राह

जहाँ तक विकास–दर का सवाल है, हमने बीसवीं शताब्दी के शुरू के 50 वर्षों की बजाय बाद के 50 वर्षों में, और उनमें भी आखिरी दो दशकों में बेहतर प्रदर्शन किया है। इस बीच उत्पादन–विकास में उतार–चढ़ाव कम हुए हैं। झटको को झेलने की क्षमता बढ़ी है। बाहरी क्षेत्र में हमारी स्थिति इस दृष्टि से सुधरी है कि अब विकास पर विदेशी मुद्रा का दबाव नहीं है। इन सबके बावजूद हमारे यहाँ व्यापक स्तर पर गरीबी और निरक्षरता के साथ–साथ स्वास्थ्य और स्वच्छता की स्थिति काफी खराब है। अभाव और गरीबी के भयंकर समुद्र के बीच सूचना प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ रूपी द्वीप भी इस देश में मौजूद हैं। आर्थिक नीति, विशेषकर नब्बे के दशक की नीतियों ने आर्थिक विकास पर पड़नेवाले

अनेक दबावो को दूर किया है। यह अपने आप मे एक उपलब्धि होने के साथ-साथ समाज के लिए तय अन्य लक्ष्यों को हासिल करने की आवश्यक पूर्व शर्त भी है; लेकिन अब भी इस बात को लेकर शंका बनी हुई है कि क्या हम विधिवत् ऐसी व्यवस्था तैयार कर रहे है, जो विकास का निरंतर उच्च स्तर सुनिश्चित करेगी तथा इस प्रकार के विकास के साथ जुड़े न्यूनतम सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति मे भी योगदान देगी?

हम किस दिशा में अग्रसर हैं?

आर्थिक सकेतको से पता चलता है कि हमारी अर्थव्यवस्था विश्व की अधिक तेज गति से विकास कर रही अर्थव्यवस्थाओं मे से एक है। हमारी अर्थव्यवस्था का बचत तथा निवेश अनुपात काफी अधिक है। पूँजी निर्गत अनुपात से स्पष्ट हे कि हमारी उत्पादकता का स्तर भी सम्माननीय है। पूँजी-प्रवाह के अपेक्षाकृत कम स्तर के बावजूद बाहरी क्षेत्र में हमारी स्थिति ठीक-ठाक है। यह स्थिती इस बात का प्रमाण है कि विदेशी पूंजी-निवेशकों की कम दिलचस्पी के बावजूद घरेलू निवेशको का मिला-जुला दृष्टिकोण है। 'वर्तमान प्रतिस्पर्धात्मक सूचकांक' के आधार पर तय हमारी स्थिति से उस विश्वास की झलक मिलती है, जो कम अवधि मे ही हमारे विकास की रफ्तार को देखकर व्यक्त किया गया है। अलबत्ता 'विकास प्रतिस्पर्धात्मक सूचकाक' पर हमारी स्थिति से जो तसवीर उभरती है, वह भविष्य मे प्रति व्यक्ति आय में विकास को लेकर आशाजनक नहीं कही जा सकती। अन्य संकेतकों के संबंध में भी यही स्थिति है कि मौजूदा विकास को गति देनेवाले कारक भविष्य में विकास को बढावा देनेवाले कारकों के मुकाबले कहीं अधिक मजबूत हैं। इसके बावजूद इस बात को लेकर पूरा भरोसा हे कि हमारी अर्थव्यवस्था मे मंदी नहीं आएगी, अर्थात् हमारी अर्थव्यवस्था स्थिर है।

अर्थव्यवस्था की वर्तमान, मध्यम और लंबी अवधि की संभावनाओ को लेकर मतभेदों को औद्योगिक संकेतकों के सदर्भ में समझा जा सकता है। साक्ष्य व्यक्तिपरक हैं, इसलिए अधिक विश्वसनीय नहीं है। हाँ, भ्रष्टाचार के मामले में अधिक वरीयता क्रम अवश्य चितनीय है, लेकिन इससे भी अधिक चिंता का विषय यह है कि सरकार की प्रभावशीलता को कम माना गया है। कानून की भूमिका तथा व्यापारिक माहौल के मामले में स्थिति सतोषजनक भले ही है, लेकिन मौजूदा संकेतक अधिक विकास-पथ को सुनिश्चित करनेवाले माहौल की गारंटी नहीं दे सकते। सरकार, कानून और व्यापारिक माहौल दरअसल उद्देश्य-प्राप्ति के साधन

भर हैं, साध्य जनता की सामाजिक-आर्थिक सम्पन्नता है, लेकिन सामाजिक आर्थिक संकेतकों के हिसाब से भारत की स्थिति पिछड़ी हुई है।

मध्यम अवधि की संभावनाओं की दृष्टि से ढाँचागत क्षेत्र में कुछ संकेतक प्रासगिक माने जाते हैं। ऊर्जा के क्षेत्र मे, चाहे वह बिजली का उत्पादन हो या बिजली की बरबादी, भारत की स्थिति काफी खराब है। हाल के वर्षों में हुए सुधारों के बावजूद दूरसंचार के क्षेत्र में भी उसका स्थान पिछड़ा हुआ ही है। पर्सनल कंप्यूटर के मामले मे तो हम काफी पीछे हैं। हालाँकि सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हमारी उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं, मगर घरेलू मोर्चे पर इसकी पहुँच कम है। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी हो जाती है कि निर्माण निर्यात में प्रौद्योगिकी सबंधी निर्यात का हमारा प्रतिशत भी कम है। भविष्य का आकलन करते समय हमें इस तथ्य पर गौर करना चाहिए कि विज्ञानकर्मियों तथा इंजीनियरों की हमारी भारी फौज के बावजूद अनुसंधान तथा विकास के क्षेत्र मे उनकी तैनाती के मामले में हमारा स्थान सबसे नीचे है। 'भूमंडलीय प्रतिस्पर्धात्मक सूचकांक' पर हमारे 49वें स्थान को ढाँचागत सकेतकों के मामले में हमारी स्थिति से समझा जा सकता है।

देश का साक्षरता-स्तर काफी कम है, हालाँकि इस मद में भी जी.डी.पी. के प्रतिशत के रूप में होनेवाला सरकारी खर्च अन्य देशों के बराबर ही है। स्वास्थ्य और स्वच्छता के हालात भी अच्छे नहीं हैं। दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि इस दिशा मे दूसरे मदों के मुकाबले खर्च भी काफी कम हो रहा है।

कुल मिलाकर, मानव-विकास के क्षेत्र में तो हमारा स्थान काफी नीचे है ही, देश की बड़ी आबादी की गिनती वंचितों की श्रेणी में होती है। इसके बावजूद स्वास्थ्य तथा प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी खर्च अपेक्षाकृत कम है, हालाँकि अधिक खर्च का अर्थ सेवाओं की वास्तविक आपूर्ति नहीं है। हममें से अधिकतर लोग मानवीय दुःख-दर्द और गरीबों की जरूरतो के प्रति काफी हद तक असंवेदी हैं। यही कारण है कि संगठित क्षेत्र से जुड़े कर्मियों के कल्याण तथा उन्हें मिलनेवाली रिआयतों की कीमतें अपेक्षाकृत अधिक हैं। नीति-निर्माताओं तथा शिक्षाविदों समेत जनमत तैयार करनेवालो को गरीबों के पक्ष में अधिक संवेदी दृष्टिकोण तैयार करने के मुद्दे पर ध्यान देना चाहिए। लबी अवधि की विकास-संभावनाओं के लिए सामाजिक चेतना के साथ-साथ सामाजिक विकास के स्वीकार्य स्तर और सरकार की समुचित भूमिका भी आवश्यक है, ताकि हमारे देश का समृद्ध भविष्य सुनिश्चित किया जा सके।

भविष्य की तसवीर

अतीत में हमार प्रदर्शन तथा भूमंडलीय संदर्भ में मौजूदा स्थिति के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर प्राप्त नतीजो को पाँच स्तरो पर देखा जा सकता है।

योजना-युग के बाद से हमारी आवश्यकताओं तथा क्षमताओं की दृष्टि से हमारा प्रदर्शन मिला-जुला रहा है। भूमडलीय स्तर पर कुल मिलाकर यह ठीक-ठाक ही है और हाल के वर्षो में यह स्थिति लगातार सुधर रही है। विकास के सामाजिक पहलू के मामले में हम पिछडे हुए है। जिन क्षेत्रों में भरोसा जताया जा रहा है, वहाँ अपेक्षित क्रियात्मकता लाने की जरूरत है, ताकि विकास की गति गतिशील रहे।

दूसरे, स्थिरता तथा विकास की मौजूदा संभावनाएँ बेहतर है। ऐसा विनियमीकरण तथा उदारीकरण के रूप में संरचनात्मक रुकावटों को दूर करने से संभव हुआ है। जाहिर है कि मध्यम अवधि के लिहाज से अधिक विकास के लिए इतना ही काफी नहीं है। इस दृष्टि से संस्थागत तथा ढाँचागत मुद्दों पर ध्यान देना आवश्यक है। यकीनन यह चुनौती काफी जटिल है।

सामाजिक संकेतको के क्षेत्र में तुरत कार्यवाही करने जैसे उपायों की अधिक आवश्यकता है। लोगों मे जागरूकता बढ़ने तथा भूमंडलीय प्रतिस्पर्धा में तेजी आने के बाद अब उनकी न्यूनतम स्वास्थ्य जरूरतों को पूरा करना या साक्षर बना देना ही पर्याप्त नही है। यदि हमें एक राष्ट्र के रूप में गरिमा तथा सम्मान के साथ जिदा रहना है तो तेज गति से कौशल-स्तरो मे वृद्धि करने की क्षमतावाली स्वस्थ आबादी का होना अत्यावश्यक है।

संस्थाओं तथा ढाँचागत तंत्र से जुड़ी मध्यम अवधि की चुनौतियों और सामाजिक विकास जेसी लबी अवधि की योजनाओं के लिए अधिक केंद्रित सरकार की आवश्यकता है, जो प्राथमिकता के आधार पर आवश्यक सेवाएँ मुहैया करा सके। हमे कम सरकार और अधिक बाजार नहीं, बल्कि बेहतर सरकार तथा वास्तविक बाजार चाहिए। अभी तक हमारे देश का यथार्थ प्राय. शासन और बाजार बनाम गरीब जनता रहा है; परंतु अब हमारी कोशिश जनता के लिए शासन और बाजार या बेहतर सरकार और वास्तविक बाजार तैयार करने की होनी चाहिए।

आनेवाले कल की समस्याओं को बीते हुए कल की रणनीति के सहारे नहीं सुलझाया जा सकता और न ही गुजरे कल की जानकारियों के आधार पर उन्हे समझा जा सकता है। यही कारण है कि हमें और अधिक संख्या में विवेकवर्धिनी तथा विवेकव्यापनी चाहिए।

परिशिष्ट–1

चुनिंदा देशों का तुलनात्मक आर्थिक प्रदर्शन

सूचकांक	भारत	सिंगापुर	चीन	पाकिस्तान	श्रीलंका	द.अफ्रीका	मेक्सिको	अमेरिका	जापान
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
1 सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.पी.) (विश्व बैंक एटलस विधि)									
क प्रति व्यक्ति 1999 (डॉलर में)	450	29610	780	470	820	3160	4400	30600	32230
ख देशों का वरीयता क्रम	162	9	140	160	137	86	71	8	6
2 सकल राष्ट्रीय उत्पाद (पी.पी.पी.)									
क प्रति व्यक्ति (1999) (डॉलर में)	2149	27024	3291	1757	3056	8318	7719	30600	2404
ख देशों का वरीयता क्रम	153	7	128	159	136	69	75	4	14
3 सकल घरेलू उत्पाद-दर (प्रतिशत में)									
क. 1980-90	5.8	6.7	10.1	6.3	4.0	1.0	1.1	3.0	4.0
ख 1990-99	6.1	8.0	10.7	4.0	5.3	1.9	2.7	3.4	1
4. मुद्रास्फीति की औसत वार्षिक दर (1990-98) (प्रतिशत में)	8.9	2	9.7	[illegible]	[illegible]	10.6	19.5	[illegible]	
5 सकल घरेलू निवेश (जी.डी.आई.) (जी.डी.पी. के प्रतिशत के रूप में)	23.9	34.8	38.8	15.7	24.8	[illegible]	24.8	18.5	

सकल घरलू बचत (1997-1999)	20.3	51 4	42 5	11 2	18 3	17 3	23 8	16 7	30 0
8. वस्तुओं तथा सेवाओं के निर्यात की औसत वार्षिक विकास-दर (1990-99)	11.3	–	13 0	2 7	8.4	5 3	14 3	9.3	5 1
9 बाहरी ऋण (1998) (जी.एन पी के प्रतिशत के रूप में)	23 0	–	16.4	52.8	54.9	18.9	43.0	–	
10 सकल भंडारण (अरब अमेरिकी डॉलर में)									
क. 1990 में	5.64	27 75	34.48	1.05	0 45	2 58	10 22	173 1	87 83
ख 1999 में	32 7	76 84	157 73	1 51	1 64	6 35	31.78	60 5	286 92
11. शुद्ध विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (अरब अमेरिकी डॉलर में)									
क वार्षिक औसत (1987-92)	0 06	3 67	4.65	0 23	0 06	-0 024	4 31	46 21	0 91
ख. 1998	2 26	7.22	45 5	0 5	0 35	0 37	10 24	193 4	3 19
12 संयोजित आई सी.आर जी. जोखिम वरीयता (मार्च 2000)	64 3	89 0	72 3	54 3	60 3	70 5	70 5	80 0	82 0

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
13. संस्थागत निवेशक क्रेडिट वरीयता (मार्च 2000)	45 3	80 4	56 6	18 8	35 4	45 2	49.8	92.9	86 9
14 1999 में स्टॉक बाजार का पूँजीकरण (अरब अमेरिकी डॉलर में)	184.6	198 4	330 7	6 97	1.58	262 5	154 0	16635	4547
15. 1997 में स्टॉक बाजार का पूँजीकरण (जी डी.पी. के प्रतिशत के रूप में)	33 7	110 4	22 9	17.8	13 9	179 8	38.9	144 4	52.9
16. सब्सिडी तथा अन्य मौजूदा हस्तांतरण (1997 के कुल व्यय के प्रतिशत के तौर पर)	40	8	–	8	20	49	51	60	
17. शिक्षा-वितरण									
क. जन-शिक्षा व्यय (जी.एन.पी के प्रतिशत के रूप में) (1995-97)	3 2	3.0	2 3	2 7	3 4	8 0	4 9	5 4	3 6
ख. जन-शिक्षा व्यय (सरकारी व्यय के प्रतिशत के रूप में) (1995-1997)	11.6	23.4	[illegible]	[illegible]	8.0	23.9	23.0	14.4	[illegible]
ग. शिक्षा-व्यय में पूर्व प्राथमिक, प्राथमिक तथा सेकेंडरी की [illegible] (1993-97)	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	74.8	8

क स्वास्थ्य पर व्यय (जी डी पी. के प्रतिशत के रूप में) (1990-98)	0.6	1 1	2 0	0.9	1 4	3 2	2.8	6.5	5 9
ख बेहतर जल-स्रोतो तक आबादी की पहुँच (प्रतिशत मे) (1990-96)	81	100	90	60	46	70	83	–	96
ग स्वच्छता तक आबादी की पहुँच (प्रतिशत मे) (1990 96)	16	100	21	30	52	46	66	–	100
घ शिशु मृत्यु-दर (प्रति 1,000 जीवित शिशुओं पर) (1998)	70	4	31	91	16	51	30	7	4
ङ जन्म के समय जीवन संभाव्यता	62 9	77 3	70 1	64 4	73 3	53 2	72 3	76 8	80
च. प्रतिदिन प्रति व्यक्ति कैलोरी आपूर्ति	2496	–	2897	2476	2302	2990	3097	3699	2932
छ. प्रतिदिन प्रति व्यक्ति प्रोटीन की आपूर्ति (ग्राम मे) (1997)	59	–	78	61	52	77	83	112	96
ज. प्रति 1 लाख की आबादी पर डॉक्टर (1992-95)	48	147	115	52	23	59	85	245	177

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
झ 1997 में प्रति 1 लाख मे तपेदिक	118.3	57.5	33 7	3 1	35 7	242 7	25 0	6 4	33.6
ञ. जन्म के समय सामान्य से कम वजनवाले शिशुओं का प्रतिशत (1990–97)	33	7	9	25	25	–	7	7	7
19 रक्षा-व्यय (जी एन.पी. के प्रतिशत के रूप मे) (1997)	2 8	5.7	2.2	5 7	5.1	1.8	1 1	3 3	1 0
20 सर्वाधिक (मार्जिनल) कर दर, प्रतिशत में (1999 मे)									
क. व्यक्तिगत	30.0	28	45	–	35	45	40	40	50
ख. सामूहिक	35	26	30	-	35	30	35	35	[illegible]
21. विद्युत् तथा परिवहन									
क. प्रति व्यक्ति बिजली की खपत (के डब्ल्यू एच) (1997)	363	7944	714	333	227	3800	1459	11822	724

(हजार टन कि मी जी डी पी (पी.पी पी.) के प्रति 10 लाख डॉलर पर)	137 ˙		304 8	26 3	2 03	283 3	62 1	213 8	101 7
ङ हवाई यात्री (1998)	165 2	133 3	532 3	54 1	12 1	64 8	177 2	5881 2	1017
22. संचार, सूचना और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी (प्रति 1000 व्यक्ति)									
क. रेडियो (1997)	121	822	333	98	209	317	325	2146	955
ख. टी.वी. सेट (1998)	69	348	272	88	92	125	261	847	707
ग टेलीफोन मेनलाइन (1998)	22	562	70	19	28	115	104	661	503
घ पी सी. (1998)	2 7	458.4	8.9	3 9	4 1	47.4	47	458.6	237 2
ङ. इंटरनेट हॉस्ट प्रति 10,000 पर (जनवरी 2000)	0 23	452 3	0.57	0 34	0 63	39 2	40 9	1940	208
च. प्रति 10 लाख पर आर. एंड डी में वैज्ञानिक तथा इंजीनियर (1987-97)	149	2318	454	72	191	1031	214	3676	4909
छ उच्च प्रौद्योगिकी निर्यात (उत्पादन निर्यात के प्रतिशत के रूप में)	5	59	15	0	–	9	19	33	26
ज. टेलीफोन कनेक्शन के लिए प्रतीक्षा सूची (1997) (वर्षों में)	1 0	0 0	0 1	1 2	6 3	0 4	0 8	0 0	0 0

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
23. केंद्रीय सरकार की जी एफ. डी. (जी डी पी के प्रतिशत के रूप में)									
क. 1990	-7 5	10 8	-1.9	-5.4	-7 8	-4 1	-2.5	-3 9	1 6
ख 1998	-5 2	11 8	-1 5	-6.3	-8 0	-2 9	-1.1	0 9	
24 केंद्रीय सरकार का पूँजीगत व्यय (जी.डी पी. के प्रतिशत के रूप में)									
क 1990	1 8	5 1	–	2.6	6 1	3 1	2 5	1 8	2 0
ख 1998	1.6	5 1	–	2.5	5.3	1 2	1 9	0 6	

नोट . देशों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपर्युक्त आँकड़े विश्व बैंक की विश्व- विकास रिपोर्ट तथा मानव विकास रिपोर्ट से लिये गए हैं। आजादी मिलने के बाद भारतीय उद्योग के प्रदर्शन के लिए आँकड़े मुख्यत भारत सरकार के आर्थिक सर्वेक्षण विश्व बैंक की विश्व विकास रिपोर्ट तथा भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा समय समय पर जारी रिपोर्ट खंड - 18 सं.- 2 तथा 3 से लिये गए हैं।

परिशिष्ट 2

सामाजिक आर्थिक संकेतक तथा उनकी व्याख्या

सूचकांक प्रकार	यह सूचकांक किस तथ्य के बारे में आकलन करता है तथा उसका अनुमान क्या रहा?
1 प्रौद्योगिकी सूचकांक	आँकड़ों तथा सर्वेक्षणों के नतीजों की जाँच के आधार पर यह किसी देश में प्रौद्योगिकी के स्तर का पता लगाता है। इसके अंतर्गत देश-विशेष द्वारा आविष्कारों में सक्रियता तथा विदेश से प्रौद्योगिकी-आयात पर भी विचार किया जाता है।
2 स्टार्ट-अप सूचकांक	यह भी प्राप्त आँकड़ों तथा सर्वेक्षणों के नतीजों पर आधारित है। यह व्यापार के लिए अनुकूल परिस्थितियों की माप करता है।
3 आर्थिक रचनात्मकता सूचकांक	आर्थिक तौर पर प्रभावी आविष्कारों तथा प्रौद्योगिकी-हस्तांतरण (प्रौद्योगिकी सूचकांक) की जाँच के लिए इसके अंतर्गत उपर्युक्त दोनों सूचकांक शामिल किए जाते हैं। पिछले दशक में सर्वाधिक रफ्तार से विकास करनेवाले देश ही सबसे अधिक रचनात्मक देशों की श्रेणी में शामिल रहे। हालाँकि सिंगापुर बड़ा आविष्कारक देश नहीं है, इसके बावजूद प्रौद्योगिकी आयात के कारण उसकी आर्थिक रचनात्मकता का स्तर काफी अधिक है।
4 विकास प्रतिस्पर्धात्मकता	इसका उद्देश्य भविष्य में अर्थव्यवस्था के विकास को प्रभावित करनेवाले कारकों की माप करना है। कुछ देश अन्य देशों की तुलना में अधिक तेजी से अपना समृद्धि-स्तर किस प्रकार बढ़ाते हैं, इसकी जाँच के लिए प्रति व्यक्ति जी.डी.पी. में परिवर्तन की दर मापी जाती है। सूचकांक तैयार करते समय उत्पादकता के स्तरों को प्रभावित करनेवाले तत्त्वों के अलावा

उत्पादकता में सुधार, आविष्कार आदि की ऊँची दरों के लिए जिम्मेदार कारकों पर भी गौर किया जाता है।

5. सूक्ष्म आर्थिक प्रतिस्पर्धात्मकता सूचकांक	इसके अंतर्गत आर्थिक विकास के सूक्ष्म आर्थिक स्तर को मापने का प्रयास किया जाता है। साथ ही, देश-विशेष की व्यापारिक फर्म जिस प्रकार के माहौल में कार्य करती है, उसका भी अध्ययन किया जाता है। इनके अंतर्संबंधों का अध्ययन कर सापेक्ष सूक्ष्म आर्थिक प्रतिस्पर्धात्मकता से संबंधित एक संतोजित तसवीर स्पष्ट रूप से उभरती है।
6. मौजूदा प्रतिस्पर्धात्मकता	सूक्ष्म आर्थिक प्रतिस्पर्धात्मकता के आधार पर इस सूचकांक को तैयार किया जाता है। यह सूचकांक मौजूदा उच्च उत्पादकता और अंततः मौजूदा आर्थिक प्रदर्शन को मापता है। इसके अंतर्गत देश-विशेष की व्यापारिक फर्मों के व्यवहार तथा उनकी रणनीतियों एवं उस देश के व्यापारिक माहौल का अध्ययन किया जाता है। किसी कंपनी के प्रचालन में शामिल आधुनिकीकरण और रणनीतियों को प्रदर्शित करनेवाले उपाय प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) से सांख्यिकीय दृष्टि से संबद्ध होते हैं। इन्हें मिलाकर उस कंपनी विशेष के प्रचालन से संबंधित उप सूचकांक तैयार किया जाता है। इसी प्रकार, व्यापारिक माहौल की गुणवत्ता सम्मलन, इनपुट की गुणवत्ता, कल-पुर्जों तथा मशीनरी के स्थानीय आपूर्तिकर्ताओं की उपलब्धता, आधुनिकीकरण के संदर्भ में उनके स्तर आदि एवं स्थानीय माँगों के स्तर प्रति व्यक्ति जी.डी.पी. से सांख्यिकीय दृष्टि से संबद्ध हैं और इन्हें मिलाकर व्यापारिक माहौल

की गुणवत्ता का उप-सूचकांक तैयार किया जाता है। उक्त दोनों उप-सूचकांकों को मिलाने पर मौजूदा प्रतिस्पर्धात्मकता सूचकांक प्राप्त होता है।

7. मानव विकास सूचकांक — यह एक संयोजित सूचकांक के अंतर्गत आधारभूत मानव-विकास की औसत उपलब्धियों की माप करता है। यह तीन संकेतकों पर आधारित है—(क) लंबा जीवनकाल, जो जन्म के समय जीवन-संभाव्यता पर आधारित है, (ख) शैक्षिक प्राप्ति, जो प्रौढ़ साक्षरता-दर और सकल प्राथमिक सेकेंडरी तथा तृतीयक नामांकन अनुपात को मिलाने से प्राप्त होता है तथा (ग) जीवन-स्तर, जो पी पी पी अमेरिकी डॉलर मे प्रति व्यक्ति आय के आधार पर मापा जाता है।

8. मानव गरीबी सूचकांक — विकासशील देशों के संदर्भ में (एच.पी आई - 1) यह सूचकांक एच.डी.आई मे प्रतिबिंबित होनेवाले मानव जीवन के तीन आवश्यक पहलुओ में कमी पर केंद्रित होता है। पहली कमी उनसे संबंधित है, जिनके 40 वर्षो तक जीवित रहने की संभावना नही होती तथा यह प्रतिशत मे व्यक्त किया जाता है। दूसरी कमी निरक्षर प्रौढ़ों (पी-2) के प्रतिशत के रूप में व्यक्त की जाती है। तीसरी कमी के अंतर्गत उन लोगों का प्रतिशत शामिल है, जिनकी पहुँच शुद्ध पेयजल तथा स्वास्थ्य-सेवाओं तक नहीं होती। सामान्य से कम वजनवाले 5 वर्ष से कम आयु (पी-3) के बच्चों का प्रतिशत भी इसमें शामिल होता है। यह सूचकांक उक्त तीनों कारकों के औसत घन (क्यूब) का घनमूल (क्यूब रूट) होता है। औद्योगिक देशों के संदर्भ में

	(एच.पी आई -2) चार कमियाँ गिनाई जाती हैं-- (क) उन लोगों का प्रतिशत, जिनके 60 वर्ष तक जीवित रहने की संभावना नहीं है। (ख) व्यावहारिक रूप से निरक्षर, (ग) ऐसे लोगों का प्रतिशत, जिनकी आय गरीबी रेखा से कम है (घ) लंबी अवधि की बेरोजगारी की दर। सूचकांक उक्त चारों कारकों के साधारण औसत घन के घनमूल से प्राप्त होता है।
9 पारदर्शिता या भ्रष्टाचार	इसके अंतर्गत व्यापारिक तथा सामाजिक जीवन पर राजनीतिज्ञों और सार्वजनिक अधिकारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार के प्रभाव का आकलन किया जाता है। इसके अंतर्गत 10 अलग अलग सर्वेक्षणों को शामिल किया जाता है। देशों को 0 से 10 तक का क्रम दिया जाता है जिसमें साफ-सुथरे देश का अधिक अंक दिए जाते हैं।
10. उभरते बाजारों तक पहुँच का सूचकांक	इसके अंतर्गत 16 संकेतकों पर आधारित बाजार के खुलेपन की माप की जाती है, जिसमें औसत प्रशुल्क स्तरों, आयात कोटा, बौद्धिक संपदा अधिकारों से सम्बन्धित नियम, निर्यात सब्सिडी, सरकारी खरीद नीतियाँ तथा निवेश बाधाओं को भी शामिल किया जाता है।
11. मंदी संभाव्यता	यह किसी देश के अगले वर्ष मंदी के दौर से गुजरने की आशंका पर राय जानने के लिए किए गए सर्वेक्षण पर आधारित होता है। इसके तहत 0 से 7 तक अंक दिए जाते हैं। अधिक अंक का अर्थ मंदी से गुजरने की अधिक आशंका को दरशाता है।
12. भूमंडलीकरण सूचकांक	इसके अंतर्गत देशों के व्यापार तथा निवेश के लिए खुलेपन, ऋण लेने-हेतु उनकी साख तथा पर्यटन के महत्त्व और विदेशी कंपनियों के हस्तांतरण को शामिल किया जाता है।

1	भारत	सिंगापुर	चीन	पाकिस्तान	श्रीलंका	द.अफ्रीका	मेक्सिको	अमेरिका	जापान	कुल राष्ट्र
	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
1. आर्थिक रचनात्मकता सूचकांक (2000)	38	3	48	–	–	26	35	1	21	59
क. प्रौद्योगिकी सूचकांक (2000)	38	3	47	–	–	32	11	1	6	59
ख स्टार्ट-अप सूचकांक (2000)	38	7	46	–	–	19	51	1	37	59
2. विकास-प्रतिस्पर्धात्मक सूचकांक (2000)	49	2	41	–	–	33	43	1	21	59
3. मौजूदा स्पर्धात्मक सूचकांक (2000)	37	9	44	–	–	25	42	2	14	58
4. सूक्ष्म आर्थिक प्रतिस्पर्धात्मकता सूचकांक (1999)	42	12	49	–	–	26	34	1	14	58
5 पर्यावरण विनियमन व्यवस्था सूचकांक (2000)	43	–	40	–	–	27	30	9	12	53
6 वित्तीय बाजार आधुनिकीकरण (1999)	39	9	50	–	–	14	35	1	26	59
7 भ्रष्टाचार-बोध सूचकांक (1996) *	46	7	50	53	–	23	38	15	17	54
8. मानव-विकास सूचकांक (1998)	128	24	99	135	84	103	55	3	9	174
क. जी डी पी. (पी पी पी) सूचकांक	0 51	0.92	0.57	0 47	0.57	0 74	0 73	0 95	0 91	174

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
ख. शिक्षा सूचकांक	0.55	0 86	0 79	0 44	0 83	0 88	0 84	0 97	0 94	174
ग जीवन-संभाव्यता सूचकांक	0.63	0 87	0.75	0.66	0.81	0 47	0 79	0 86	0 92	174
9. मानव-गरीबी सूचकांक**	58	-	30	68	35	33	12	18	9	
10 मंदी संभाव्यता (जनवरी 2000) (0 से 7 के बीच)***	6	6.2	5.4	-	-	6 3	5 2	5 7	4 6	
11. भूमंडलीकरण सूचकांक वार्षिक औसत (प्रतिशत बदलाव) (1993-97)	2 0	6 0	7 0	-	-	4.0	-4.5	5.0	0 5	
12. उभरता बाजार पहुँच सूचकांक (2000)	46	86	37	-	-	72	68	-		

* 85 विकासशील तथा 18 औद्योगीकृत देशों (जिनसे अमेरिका तथा जापान भी सबद्ध हैं) के लिए अलग-अलग।

** वरीयता क्रम जितना अधिक होगा, भ्रष्टाचार या पारदर्शिता का अभाव उतना ही अधिक होगा।

*** यह संख्या जितनी अधिक होगी मंदी संभाव्यता उतनी ही कम होगी।

परिशिष्ट 4

विभिन्न सामाजिक आर्थिक सूचकाको के सूचना स्रोत

सूचना-स्रोत	सूचकांक का प्रकार/वरीयता
क प्राथमिक स्रोत विश्व आर्थिक मच	1. विकास प्रतिस्पर्धात्मकता वरीयता (सयोजित) 2. मौजूदा प्रतिस्पर्धात्मकता वरीयता 3. सूक्ष्म आर्थिक प्रतिस्पर्धात्मकता 4. आर्थिक रचनात्मक सूचकांक 5 प्रौद्योगिकी सूचकांक 6 स्टार्ट-अप सूचकांक 7 पर्यावरण विनियमन व्यवस्था 8 वित्तीय बाजारों के आधुनिकीकरण का स्तर
ट्रासपेरेसी इटरनेशनल तथा गॉटिंगन विश्वविद्यालय	भ्रष्टाचार बोध सूचकाक
विश्व बैंक	1 मानव-विकास सूचकांक 2 मानव-गरीबी सूचकांक 3 क्रय-शक्ति साम्य वास्तविक जी.डी पी प्रति व्यक्ति 4. ढाँचागत तत्र संबंधी आँकड़े 5 सूचना सबंधी आँकडे 6. बृहद् अर्थव्यवस्था परिवर्तनशीलता सबधी 7 सामाजिक-आर्थिक संकेतक संबधी
ख. गौण स्रोत द इकॉनॉमिस्ट	1 मंदी-संभाव्यता 2. भूमंडलीकरण सूचकांक में परिवर्तन 3. उभरता बाजार-पहुँच सूचकांक 4. उभरता बाजार सूचीबद्धता
ग. अन्य स्रोत एस शिवा सुब्रह्मण्यन (1998) 'ट्वेंटिएथ सेंचुरी इकॉनॉमिक परफारमेंस ऑफ इंडिया'	स्वतत्रता पूर्व संबंधी सूचना

सूचना स्रोत	सूचकांक का प्रकार वर्गीकरण
विश्व बैंक (2000) इंडिया रिड्यूसिंग पावरटी, एक्सलरेटिंग डेवलपमेंट'	1 शासन वर्गीकरण 2. गरीबी पर नेशनल सैंपल सर्वे (एन.एस.एस.)
भारतीय रिजर्व बैंक (1997) की विविध रिपोर्ट खंड-18, स -2 तथा 3	सन् 1950 से 1990 के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था सम्बन्धी सूचना
भारत सरकार, आर्थिक सर्वेक्षण (1999-2000)	सन् 1950 से 1990 के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था सम्बन्धी सूचना

□

भारत में उभरती आर्थिक चुनौतियाँ

—विजय केलकर

जुदा आर्थिक चुनौतियाँ

पिछले कुछ वर्षों के दौरान विश्व अर्थव्यवस्था में, विशेषकर एशियाई क्षेत्र में आए भारी तूफान के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था में स्थिरता बनी हुई है। वास्तव मे, सन् 1998 में तो भारत ने दुनिया के अन्य देशों के मुकाबले सर्वाधिक विकास-दर दर्ज कराई और इस वर्ष भी विकास-दर पिछले साल की तुलना में अधिक रहने की संभावना है। इसी प्रकार बृहद् अर्थव्यवस्था से जुड़े संकेतकों, जैसे—मुद्रास्फीति तथा विनियम-दर स्थिरता के लिहाज से भी हाल के वर्षों मे भारतीय अर्थव्यवस्था का शानदार प्रदर्शन रहा है। वर्तमान में मुद्रास्फीति दर 4 प्रतिशत से कम है और विनिमय-दर भी अपेक्षाकृत कम है। वस्तुतः इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि नब्बे के दशक के दौरान देश की विकास-दर में कुछ तेजी आई है, लेकिन कुछ कमजोरियाँ भी हैं। गरीबी को शीघ्र दूर करने के लक्ष्य को हासिल करने के लिए इन्हे दूर करना होगा। भारतीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ मे लंबी अवधि के परिप्रेक्ष्य में विचार करने तथा आवश्यक नीतिगत सुधार और प्रयास शुरू करने की जरूरत है।

भारत के आर्थिक इतिहास पर नजर डालें तो यह स्पष्ट है कि हमारी आजादी ने इसके प्रवाह की निरंतरता को प्रभावित किया है। आजादी पाने के बाद मे ही देश ने औपनिवेशिक युग की मंदी और आर्थिक पिछड़ेपन से निजात पाने मे काफी हद तक सफलता प्राप्त की है। यह हमारा सौभाग्य रहा है कि हमें पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कई प्रतिभावान नेताओं का मार्गदर्शन मिला। विश्व को लेकर उनकी निश्चित समझ तथा संतुलित दृष्टि रही। हमारा लक्ष्य ऐसी आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था तैयार करना था, जो अतरराष्ट्रीय पूँजीवादी दबावों से मुक्त होकर काम कर सके। इस दृष्टिकोण से हमारे नेताओं की

आकांक्षाएँ सुस्पष्ट थीं—वे यथाशीघ्र गरीबी से मुक्ति पाने के लिए आत्मनिर्भर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था कायम करना चाहते थे। उद्यमी वर्ग की कमजोरियों तथा सुचारु रूप से कार्य करनेवाले पूँजी-बाजारों के अभाव के चलते सरकार को पूँजी जुटाने के कार्य में तेजी लाने का दायित्व सौंपा गया। साथ ही, भारी तथा बुनियादी उद्योगों की स्थापना की जिम्मेदारी भी सरकार को दी गई। नतीजतन सार्वजनिक क्षेत्र ही औद्योगीकरण का अगुवा बन गया।

इस नीति से यह लाभ हुआ कि विकास-दर में तेजी आई, सामाजिक औद्योगिक ढाँचागत विस्तार हुआ, रक्षा उत्पादन तथा अत्याधुनिक एवं सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण परमाणु और अंतरिक्ष क्षेत्रों का प्रौद्योगिकीय आधार मजबूत हुआ।

इस नीति को लागू करने की दिशा में शीघ्र ही एक बड़ी परेशानी कृषि क्षेत्र में हमारी नाकामी के रूप में सामने आई, जिसके परिणामस्वरूप पी.एल. 480 खाद्यान्न-आयात पर हमारी निर्भरता हो गई, लेकिन श्रीमती इंदिरा गांधी ने हरित क्रांति के जरिये इस नाजुक कमजोरी पर काबू पाया, ताकि देश खाद्यान्न सुरक्षा के मामले में आत्मनिर्भर बन सके।

ये तमाम उपलब्धियाँ इस लिहाज से भी ऐतिहासिक हैं कि लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के अंतर्गत बिना औपनिवेशिक शोषण प्रक्रिया से और जनसंख्या विस्फोट की चुनौतियों का सामना करते हुए इन्हें हासिल किया गया।

ये उपलब्धियाँ हमारे ऐतिहासिक मापदंडों की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं, परंतु एशियाई देशों, जैसे—चीन, जापान, कोरिया आदि की समकालीन अर्थव्यवस्थाओं की उपलब्धियों की तुलना में यकीनन काफी कम हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत की प्रति व्यक्ति आय का स्तर चीन तथा कोरिया के समान ही था, लेकिन उसके बाद इस दृष्टि से ये दोनों ही देश भारत को काफी पीछे छोड़ चुके हैं। यहाँ तक कि भूमंडलीय व्यापार तथा उत्पादन के क्षेत्र में भी विश्व-अर्थव्यवस्था में इन दोनों देशों की हिस्सेदारी हमसे कहीं अधिक है। कोरिया की प्रति व्यक्ति आय 10,550 अमेरिकी डॉलर है, जबकि भारत की प्रति व्यक्ति आय मात्र 390 अमेरिकी डॉलर ही है। इसी प्रकार चीन का सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) सन् 1997 में 825 अरब अमेरिकी डॉलर रहा, जो हमसे दोगुना है। चीन ने पिछले दो दशकों के दौरान 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक की निरंतर विकास-दर के जरिये इसे हासिल किया है। इसी प्रकार दक्षिण एशिया की अन्य चामत्कारिक अर्थव्यवस्थाओं की प्रति

व्यक्ति आय भी पिछले तीन दशकों से भी अधिक समय से हमसे दो-तीन गुना दर्ज की गई है। मानव-विकास सूचकांक के लिहाज से भी इन अर्थव्यवस्थाओं के साथ तुलना करने पर हम पिछड़े हुए हैं। हालाँकि जीवन संभाव्यता तथा अन्य संकेतकों की दृष्टि से हमारी स्थिति में सुधार आया है, लेकिन मानव-विकास सूचकांक को देखते हुए हम इन देशों की गतिशील अर्थव्यवस्था से काफी पीछे ही हैं। इसी प्रकार, जहाँ एक ओर इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं ने गरीबी पर काबू पाने की दिशा में श्रेष्ठ प्रदर्शन किया है, वहीं भारत में दुनिया भर में सबसे अधिक गरीब मौजूद हैं।

इस प्रकार के अंतरराष्ट्रीय तुलनात्मक अध्ययन का एक और रोचक तथ्य यह है कि प्रति व्यक्ति आय या मानव-विकास सूचकांक के आधार पर तय जीवन-स्तरों के लिहाज से भारत भले ही पिछड़ा हुआ है, लेकिन इक्विटी संबंधी संकेतकों, जैसे—'गिनी सूचकांक', जिसके अंतर्गत आय का वितरण तथा अर्थव्यवस्था की खपत शामिल की जाती है, के आधार पर भारत का स्थान दस उच्च विकासशील देशों में शामिल है। विश्व बैंक की विश्व विकास रिपोर्ट (सन् 1998) के अनुसार हमारी खपत-वितरण अमेरिकी और अन्य विकसित देशों में आय-वितरण की तुलना में कम न्यायसंगत है। हाल में योजना आयोग के सदस्य प्रो. हाशिम के प्रकाशित अध्ययन में भी यही कहा गया है कि 'गिनी सूचकांक' में पिछली योजनाओं की तुलना में भारत का सुधार कम ही सही, मगर हुआ है। खपत-वितरण के उपलब्ध आँकड़ों की गुणवत्ता के मद्देनजर इतना तो कहा ही जा सकता है कि वितरण की स्थिति बिगड़ी नहीं है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है, क्योंकि हमारे कई वामपंथी विश्लेषकों की राय में भारत आय में असमानता से सबसे अधिक शिकार हुआ है। यह स्थिति लगातार बिगड़ रही है, परंतु उपलब्ध आँकड़े इसका समर्थन नहीं करते। इसी से हमें अपनी आर्थिक समस्या का मूल कारण समझ में आता है। दरअसल, गरीबी के अभिशाप का कारण हमारी प्रति व्यक्ति आय की कमी होना है, जो अपेक्षाकृत कम विकास-दर के कारण है। दूसरे शब्दों में, भारत के सामने हर क्षेत्र में कम उत्पादकता तथा उत्पादकता की कम विकास-दर की समस्या है। देश में निरंतर बनी रही भयंकर गरीबी का मूल कारण भी यही है।

अब महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है कि इस स्थिति में हम कैसे पहुँचे, जबकि विकास-प्रक्रिया ने हमारी कम बचतवाली अर्थव्यवस्था को चमत्कारिक ढंग

से उच्च-बचत/उच्च-निवेश अर्थव्यवस्था में बदल दिया है। हमारी पिछली 50 वर्षों की योजनाओं के दौरान बचत तथा निवेश का आँकड़ा सन् 1951-52 में क्रमश. 10.4 प्रतिशत तथा 10 2 प्रतिशत रहने के बावजूद आठवीं योजना के अंत तक दोगुने से भी अधिक बढ़कर 23 1 प्रतिशत और 24 8 प्रतिशत तक जा पहुँचा। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बड़े निवेश करने के लिए भारतीयों ने काफी त्याग किया है· परंतु इस निवेश से वापसी की कुल दर इतनी नहीं बढ़ सकी कि वह गतिशील विकासशील अर्थव्यवस्थाओं से टक्कर ले सके या गरीबी-उन्मूलन के लिए संसाधन उपलब्ध करा सके।

9. कम उत्पादकता तथा कम विकास के रूप में पैदा हुए इन असंतोषजनक फलों के लिए अनेक कारक जिम्मेदार हैं। पहली महत्त्वपूर्ण कमी अंतरराष्ट्रीय व्यापार की अनदेखी रही। इस अनदेखी के चलते हम उत्पादकता बढ़ानेवाली विनिमय सभावनाओ से हाथ धो बैठे। जहाँ तक निर्माण क्षेत्र का सवाल है, हमने व्यावसायिक वाहन से लेकर स्टील मिल तक सभी कुछ उत्पादन-शृंखला के तहत उत्पादित करने की नीति अपनाई। इसका परिणाम यह हुआ कि सबसे कमजोर कड़ी ही पूरी उत्पादन-शृंखला की मजबूती तय करने का आधार बन गई। हमने अनेक प्रकार की गतिविधियों के क्षेत्रों से जुड़े उत्पादन में हाथ डाला, हालाँकि हम इनमें से कई अन्यों के मुकाबले प्रतियोगिता में टिकने की स्थिति में नहीं थे। उदाहरण के लिए, भारतीय उर्वरक उद्योग को भारतीय उत्प्रेरक ही इस्तेमाल करने के लिए मजबूर करने से पूरे उर्वरक उद्योग को नुकसान पहुँचा। यही हाल इलेक्ट्रॉनिक क्षेत्र का रहा, जहाँ स्वदेशी कंप्यूटर हार्डवेयर के इस्तेमाल को लेकर की गई जिद के चलते सॉफ्टवेयर उद्योग को स्थापित होने में समय लगा।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि अंतरराष्ट्रीय व्यापार को अपने संसाधनों के कुशल इस्तेमाल की इजाजत न देकर स्वयं के उत्पादन क्षेत्र के साथ हमने जबरदस्ती की। विदेशी व्यापार के क्षेत्र में समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं पर ही ध्यान केंद्रित रखने की अपनी नीति के कारण हमने उन उभरते गतिशील क्षेत्रों के रूप मे बनी कड़ियों की उपेक्षा की जिनमें जापान सहित कई पूर्वी एशियाई देश शामिल हैं। तेजी से विकास कर रहे जापान से यदि हमने अपने बाहरी व्यापार का नाता जोड़ा होता तो देश के समूचे विकास की अलग तसवीर हमारे सामने होती।

0 इसी प्रकार कृषि-क्षेत्र की भी कुछ हद तक अधिक उपेक्षा हुई है। नोबेल

पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री प्रो. ऑर्थर लुईस ने स्पष्ट किया है कि कृषि क्षेत्र मे उत्पादकता ही आर्थिक विकास के लाभ सुनिश्चित करती हैं। हमने न सिर्फ कृषि में निवेश, सिंचाई आदि सबद्ध पक्षों को नजरअंदाज किया, बल्कि व्यापार की शर्तों को भी कृषि के विपरीत निर्धारित किया। इस मामले मे किसान नेता श्री शरद जोशी के इस तर्क में वजन है कि भारत के कृषि-क्षेत्र को नियंत्रणों के वर्तमान दौर से मुक्त करना चाहिए। दरअसल, हम मूल्य-वर्धित कृषि के जरिये रोजगार के अवसर बढ़ाने की संभावनाओं से भी चूक गए। इस अनदेखी का गहरा असर विकास-प्रक्रिया पर भी पड़ा। प्रो. सुखमय चौधरी ने दरशाया है कि किस प्रकार खाद्यान्न अर्थव्यवस्था के मोरचे पर नाकामी के कारण अंततः विकास-दर धीमी पड़ी है।

हमारे सार्वजनिक क्षेत्रों की कार्य-प्रणाली भी हमारी कमजोरियों का बड़ा कारण बनी है। सार्वजनिक क्षेत्र की रूपरेखा तैयार करते समय हमने प्रोत्साहनों की भूमिका को नजरअंदाज किया, विशेषकर प्रबंधन तथा नौकरशाही को दिए जानेवाले प्रोत्साहनों को, जिनके जरिये शेयर-धारकों की रकम तथा राष्ट्रीय धन को अधिकतम किया जा सकता है। शायद हमारे कानूनी तंत्र ने भी सार्वजनिक क्षेत्र को सरकार का विस्तार मानकर इस समस्या को और अधिक बढ़ाया है। इससे सार्वजनिक क्षेत्रों की जोखिम उठाने की क्षमता का ह्रास हुआ, जो दरअसल किसी भी उद्यमी का प्रमुख गुण माना जाता है। नतीजतन पूँजी जुटाने के मुख्य लक्ष्य को लेकर स्थापित सार्वजनिक उद्यम वास्तविकता में हमारे राजकोषीय संसाधनों पर भारी पड़ने लगे।

लंबी अवधि की विकास-दर पर प्रतिकूल असर डालनेवाला एक और स्रोत मौजूद है। यह है रिआयतें, और फिर रिआयतों पर रिआयतें। इस क्षेत्र में भारी विकास हुआ है। सन् 1971 के बजट में उपलब्ध कुल रिआयतें जी डी पी का 3 प्रतिशत थीं और महज दो दशकों में ही ये चार गुना बढ़कर 12 प्रतिशत तक हो गईं। हाल में हुए शोध के अनुसार इन रिआयतों का आँकड़ा जी.डी.पी. का 16 प्रतिशत तक जा पहुँचा है। हालाँकि सभी रिआयतें गलत नहीं कही जा सकतीं; कुछ तो वास्तव मे उपयोगी भी होती हैं। ऐसी रिआयतें भी हैं, जहाँ सामाजिक लाभ सामाजिक कीमतो की तुलना में अधिक हैं, लेकिन इस प्रकार की रिआयतें कुछ रिआयतों के एक-तिहाई अंश से भी कम हैं। केंद्रीय तथा प्रादेशिक सरकारें सीधे बजट में इनका प्रावधान करती हैं या फिर राजकोषीय घाटे के रूप में इनकी व्यवस्था की जाती है। इसी प्रकार अपनी कार्यक्षमता से

अपेक्षाकृत कम प्रदर्शन करनेवाले सार्वजनिक क्षेत्रों के लिए रिआयतें उपलब्ध हैं। सन् 1950-1997 के दौरान सार्वजनिक क्षेत्रों में स्टॉक निवेश बढ़कर [illegible] लाख करोड तक जा पहुँचा। यह आँकडा दरअसल किताबी मूल्य पर आधारित है। वास्तव में इन स्टॉक्स का मूल्य कहीं अधिक है, लेकिन उनपर भी वापसी की दर 3 प्रतिशत से भी कम है। यदि ये उद्यम भी कुशल उद्यमों की भाँति प्रदर्शन करते तो वापसी की यह दर दो गुना या तीन गुना अधिक होती। यह अंतर भी वास्तव में एक तरह की रिआयत ही है, जिसका भुगतान अंततः करदाता ही करता है।

3. यदि ये रिआयतें गरीबों को दी जा रही होतीं तो शायद बचाव करना आसान रहता। दरअसल, इन रिआयतों का अधिकांश उन लोगों तक पहुँचता है जो उतने गरीब नहीं हैं। यहाँ तक कि उर्वरक या खाद्यान्न रिआयतों का भी यही हाल है। इनका लाभ ग्रामीण गरीबों को नहीं मिलता। सच तो यह है कि, आज हमारे सामने भारतीय राजनीति का एक नया मुहावरा सामने आ रहा है। इसमें रिआयतें विकास की गति की राह में रुकावट बन गई हैं।

4. प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध रिआयतें तो खराब हैं ही, परोक्ष रूप से मिलनेवाली रिआयतें और भी ज्यादा नुकसान कर रही हैं। बजट में उनका प्रावधान नहीं होने के कारण ये अपारदर्शी हैं। इनके कारण हमारे कई प्रमुख उद्योगों को अंतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में नुकसान उठाना पड़ा है; बिजली, रेल परिवहन, पेट्रोलियम, दूरसंचार तथा अन्य कई क्षेत्रों में रिआयतों का नुकसान स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ऐसा महसूस किया गया है कि अलग-अलग वर्गों के उपभोक्ताओं से अलग-अलग कीमतें वसूलने से सामाजिक न्याय का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है, लेकिन यह दुर्भाग्य ही है कि इसका परिणाम एकदम उलटा हुआ है। कृषि क्षेत्र को मुफ्त बिजली देने के कारण न सिर्फ माँग क्षेत्र मे बिजली के कुशल प्रयोगकर्ता को प्रोत्साहन से वंचित किया गया, बल्कि आपूर्ति क्षेत्र में भी इससे वितरण-गुणवत्ता में गिरावट आई। बाजार अर्थव्यवस्था मे या तो मूल्य निश्चित किया जा सकता है या फिर मात्रा तय, परंतु इन दोनों को लंबे समय के लिए निर्धारित नहीं किया जा सकता। नतीजतन किसानों के लिए बिजली की आपूर्ति स्वतः रुकावट बन जाती है, जिससे उसकी अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है।

औद्योगिक क्षेत्र पर तो इसका और भी प्रतिकूल असर पड़ता है। इस क्षेत्र के लिए बिजली का शुल्क कृषि या घरेलू क्षेत्रों की तुलना में कई गुना अधिक

है। क्षमता में अधिक वृद्धि की यह घटना केवल भारत में ही देखी जा सकती है। इससे हमारे औद्योगिक क्षेत्र की प्रतिस्पर्धात्मकता पर विपरीत असर पड़ा है, जिसके कारण निर्यात तथा रोजगार के क्षेत्रों में विकास कमजोर हुआ है। इसी प्रकार रेलवे ने भी माल-भाड़े के रिआयती यात्री किराए की तुलना में कहीं अधिक तय किया गया है। इससे संसाधनों के कुशल इस्तेमाल तथा अंतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धात्मकता पर असर पड़ा है। टेलीफोन शुल्क में हाल में किए गए सुधारों से पहले तक दूरसंचार के क्षेत्र में भी कमोबेश यही स्थिति बनी हुई थी।

भारत के विकास पर सबसे अधिक बोझ सरकारी खर्चों का है। इसका कारण सरकार का आकार तथा सरकारी/अर्ध-सरकारी संगठनों के कर्मचारियों पर होनेवाला खर्च है। एक के बाद एक आए वेतन आयोगों ने कर्मचारियों के देय वेतन में हमेशा वृद्धि की है, जबकि सरकार की भुगतान-क्षमता या फिर इन कर्मियों द्वारा की गई आपूर्ति की गुणवत्ता का खयाल कभी नहीं किया गया। पिछले दिनों वेतन आयोग द्वारा दिए गए फैसले से सरकारी खर्च में जी.डी.पी. के 2 प्रतिशत के बराबर राशि की वृद्धि होने की संभावना है। दरअसल, यह वेतन-वृद्धि ही केंद्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों के लिए राजकोषीय दबाव का कारण बनी है।

बढ़ते राजस्व तथा राजकोषीय घाटे के चलते सरकार द्वारा बाजारों से अधिक ऋण लिया जाता है। इस प्रकार निजी क्षेत्र का निवेश लगातार सिकुड़ता जा रहा है और ब्याज-दर भी बढ़ रही है। वर्तमान में निजी वित्तीय बचत का लगभग 80 प्रतिशत सार्वजनिक क्षेत्रों में ऋण के रूप में इस्तेमाल हो रहा है। नतीजतन हमारे सामने नए नोट छापकर मुद्रास्फीति की अधिक दर या अधिक ब्याज-दर में से एक को चुनने का हानिकर विकल्प ही बचा है, जिससे निवेश तथा रोजगार विकास के रास्ते बंद होते हैं। इन सबकी अंतिम परिणति विकास-दर में कमी के रूप में होती है। दरअसल, देश की समृद्धि के लिए इस प्रक्रिया को उलटने की जरूरत है।

अब नए दौर के सुधार लागू करने का समय आ गया है। सन् 1991 में प्रधानमंत्री नरसिंह राव तथा वित्त मंत्री डॉ. मनमोहन सिंह द्वारा शुरू किए गए पहले चरण के सुधार दरअसल संकट से प्रेरित थे। अब हम सर्वसम्मति से सुधार लागू कर सकते हैं, ताकि हम किसी भी संकट की स्थिति में उनसे निपटने की कार्यवाही समय रहते कर सकें।

19 सर्वप्रथम राजकोषीय सुधार सुनिश्चित करने की दिशा में संरचनात्मक सुधार करने होंगे। संसद् को राजकोषीय उत्तरदायित्व विधेयक लाना चाहिए, ताकि राजस्व और बजट घाटे को सीमित कर अर्थव्यवस्था को ऋण जाल में फँसने से बचाया जा सके। कई देशों में इस प्रकार की व्यवस्था की गई है। केवल विधेयक पारित कर देने से ही राजकोषीय संतुलन प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिए केंद्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों को बिजली, पानी, परिवहन आदि के प्रयोग-शुल्क में बढोतरी करनी होगी, ताकि निवेश बढ़ाने के लिए संसाधन तैयार हो सके और साथ ही इन सेवाओं में भी सुधार लाया जा सके। ये उपाय इन क्षेत्रों में निजी निवेश को प्रेरित करेंगे, उपभोक्ताओं के लिए खर्च में कमी लाएँगे तथा प्रतिस्पर्धा को बढावा देकर गुणवत्ता में सुधार को सुनिश्चित करेंगे।

0 इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण सुधार सरकार की भूमिका को नए सिरे से परिभाषित करने तथा उसका आकार घटाने को लेकर किया जा सकता है। सरकार का आकार कम करने का अर्थ सामरिक दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का, जिसमें बैंकिंग क्षेत्र भी शामिल है, निजीकरण है। सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में परमाणु ऊर्जा, अंतरिक्ष तथा रक्षा-उत्पादन से जुड़े उद्यम शामिल हैं। सरकारी तंत्र के पुनर्गठन के इस कार्यक्रम के तहत सरकार को शिक्षा, स्वास्थ्य और पर्यावरण सुरक्षा के क्षेत्र में अधिक ध्यान देने की जरूरत है। इसके अलावा सरकार को पारदर्शिता बढाने तथा अच्छा शासन-तंत्र देने की भी पहल करनी होगी।

संसद् को सरकार की आकार-संबंधी नीतियों तथा सरकारी/अर्ध सरकारी एजेंसियों से जुड़े कर्मचारियों को देय वेतन संबंधी सिद्धांत की समीक्षा करनी होगी। इस प्रकार के प्रयासों से ही राज्य तथा केंद्र की राजकोषीय स्थिति में सुधार सुनिश्चित कर करदाता के धन का सदुपयोग हो सकता है।

सरकार की भूमिका में सुधार करने पर भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रबंधन के लिए नया संस्थागत वास्तुकार तैयार करना होगा। इस प्रकार पूर्णत: आधुनिक बाजार अर्थव्यवस्था की पहचान कर हम उस राह पर हैं, जहाँ नीतिगत स्थिरता, पारदर्शिता तथा पूर्व आकलन करना काफी महत्त्वपूर्ण है। इस नई व्यवस्था में अमेरिका के फेडरल रिजर्व या ब्रिटेन के 'बैंक ऑफ इंग्लैंड' की तर्ज पर भारतीय रिजर्व बैंक को अधिक आजादी देकर नए स्वतंत्र मौद्रिक प्राधिकरण का गठन करना होगा।

नए संस्थागत ढांचे के बनने पर स्वतंत्र नियमन एजेंसियों, जैसे—सेबी, ट्राई, सी ई आर सी आदि को भी मजबूत बनाना होगा तथा इनके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वतंत्र न्याय व्यवस्था के समकक्ष मानना होगा। ऐसा करने से निवेशकों तथा उपभोक्ताओं में विश्वास बढ़ेगा और इन क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा को भी बढ़ावा मिलेगा।

राजकोषीय सुधार से कम तथा अधिक अवधि की वास्तविक ब्याज-दरों में कमी आएगी। वर्तमान में ये 6-8 प्रतिशत के अभूतपूर्व स्तर पर बनी हुई हैं। दुनिया के किसी भी देश में इतनी ऊँची ब्याज-दरों के रहते टिकाऊ विकास-दर को हासिल नहीं किया गया है। वास्तविक ब्याज-दरों को 3-5 प्रतिशत के आस पास लाने पर ही अर्थव्यवस्था के सभी पक्षों में चमत्कारी विकास देखा जा सकता है।

सुधारों का प्रमुख लक्ष्य उत्पाद बाजारों तथा सेवा-क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा बढ़ाना और मुक्त प्रवेश तथा अंतरराष्ट्रीय व्यापार को मुक्त करना है। इसका सीधा अर्थ सभी को, अर्थात निजी तथा सार्वजनिक उपक्रमों को प्रतियोगिता के समान अवसर प्रदान करना है। यह लक्ष्य हासिल करने के लिए सबसे पहले हमें शुल्क बाधा को दूर करने से संबंधित नीतिगत सुधार लागू करने होंगे। वर्तमान में भारत की शुल्क दरें विश्व के अन्य देशों की तुलना में काफी अधिक हैं। जहाँ पूर्व और दक्षिण की गतिशील अर्थव्यवस्थाओं का यह औसत लगभग 5 प्रतिशत है, वहीं भारत में यह आँकड़ा 25 प्रतिशत तक है। हमें शुल्क में कमी लाने के कार्यक्रम में तेजी लानी होगी, ताकि शुल्क-दरों को एशियाई स्तर तक घटाया जा सके।

इसी प्रकार गैर शुल्क बाधाओं को दूर करना भी बेहद महत्त्वपूर्ण है। इसके तहत उपभोक्ता तथा कृषि-उत्पादों पर से शीघ्र ही आयात नियंत्रण हटाने होंगे तथा लघु क्षेत्र का आरक्षण खत्म करना होगा, क्योंकि यह क्षेत्र देश को वस्त्र, जूते, चमड़े, खिलौने आदि श्रम-आधारित उत्पादों के निर्यात में तेजी से आगे बढ़ने से रोक रहा है। आरक्षण का अर्थ उन उत्पादों का स्तर कम रखना है, जो अंतरराष्ट्रीय मापदंडों की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। अंतरराष्ट्रीय बाजार पर कब्जा करने के लिए 'गुणवत्ता' तथा 'समय पर आपूर्ति' काफी महत्त्वपूर्ण है। दरअसल, गैर शुल्क बाधाओं में 50 प्रतिशत की कमी से देश की जी.डी.पी. को 1.5 प्रतिशत लाभ होगा। यह लाभ हर वर्ष जुड़ता रहेगा, यानी रोजगार के अवसर बढ़ेंगे। इसी प्रकार आंतरिक उदारीकरण में, जिसमें

उन सार्वजनिक क्षेत्रों का निजीकरण भी शामिल होगा, जो मध्यवर्ती वस्तुएँ तथा सेवाएँ उपलब्ध कराते है तो हम देखेंगे कि चमत्कारिक ढंग से लाभ मिलेगा। अमेरिका के पिछले 20 वर्षो के अनुभवो को ही देखें, जहाँ बिजली प्राकृतिक गैस उद्योग, एयरलाइंस, सडक परिवहन, रेल परिवहन इत्यादि क्षेत्रों मे उदारीकरण के बाद इन क्षेत्रो में जी.डी.पी के 10- 15 प्रतिशत तक लाभ बढा है। अन्य देशों के अनुभव भी ऐसे ही रहे है। एक अध्ययन से पता चलता है कि अर्थव्यवस्था को जी डी पी के 3.4 प्रतिशत तक अतिरिक्त लाभ पहुँच सकता है। दरअसल, ये लाभ अर्थव्यवस्था की पहले से मौजूद क्षमता के आधार पर ही प्राप्त होंगे। इनके लिए किसी नए भौतिक निवेश या नई पूँजी की आवश्यकता नहीं है।

5. सुधारों के अगले दौर मे कारक बाजारों को भी शामिल करना चाहिए। सन 1991 के सुधारो के तहत औद्योगिक लाइसेंसिंग तथा आयात अवरोधक हटाकर उत्पाद बाजारों के सुधार पर अधिक जोर दिया गया था। इस कारण श्रम-बाजार, भूमि-बाजार, पूँजी-बाजार, प्राकृतिक संसाधन बाजार आदि सभी कारक बाजारों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। श्रम बाजारों मे सुधार विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। दरअसल, नई औद्योगिक क्रांति के बाद के दौर में सभी गतिविधियो में लचीलेपन की जरूरत है। इसका मतलब यह हुआ कि श्रम बाजारों में लचीलापन आवश्यक है, ताकि कंपनियाँ बाजारों की बदलती परिस्थितियों के मुताबिक स्वय को ढाल सके। इन सुधारों के अंतर्गत वित्तीय बाजारों मे भी सुधार जरूरी हैं। इनके तहत महाराष्ट्र की रोजगार गारन्टी योजना की तरह अन्य कई सामाजिक सुरक्षा-तंत्र भी विकसित करने होंगे। अब समय आ गया है कि उत्पाद-आधारित रियायतों, जैसे---खाद्यान्न रियायतों को समाप्त किया जाए तथा इक्विटी में सुधार के लिए इसके स्थान पर नकारात्मक आयकर को लाया जाए। इसके साथ ही कार्यकुशलता पर प्रतिकूल असर को भी नियंत्रित रखना होगा। इस प्रकार के नीतिगत उपकरणों में परिणामकारी बदलाव के लिए खाद्यान्न टिकटों और शिक्षा वाउचरों के रूप में प्रयोग किए जा सकते हैं, ताकि सामाजिक तौर पर पिछड़े और कमजोर वर्गों की आवश्यकताएँ पूरी की जा सके। इस नई व्यवस्था में यह माना गया है कि सरकार वित्तपोषक तो हो सकती है, परंतु जरूरी नहीं कि वह इन सेवाओं की उत्पादक भी हो। विभिन्न देशों के विभिन्न चरणों के अनुभव यही साबित करते हैं कि समाज मे समानता को बढ़ावा देने के लिए शिक्षा या मानव- पूँजी

ही सर्वाधिक सफल ह।

प्रथम दौर के सुधार-कार्यक्रम केंद्र के स्तर पर लागू किए गए थे, जबकि अगले दौर के सुधार-कार्यक्रमों को हमारे राज्यों के स्तर पर लागू किया जाना चाहिए। दरअसल, हमारे राजस्व तथा राजकोषीय घाटे का लगभग 40 प्रतिशत राज्यो के वित्त से सबधित होता है। इनमे सुधार अपेक्षित है। इसी प्रकार सेवाओं के वितरण में भी सुधार की आवश्यकता है, क्योंकि शिक्षा, स्वास्थ्य आदि बुनियादी सेवाएँ राज्यों के स्तर पर ही वितरित की जाती हैं। मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक आदि राज्यों में शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र मे काफी रचनात्मक पहल हुई है। दरअसल, जनता भी अब 'अंतरराष्ट्रीय सोच और स्थानीय पहल' के मुहावरे को महत्त्व देने लगी है, जिसके चलते विभिन्न प्रादेशिक सरकारो में उद्योगो, विशेषकर सूचना प्रौद्योगिकी जैसे उद्योग को बेहतर सेवाएँ देने की होड़ लग गई है, क्योंकि इसमें भारत की तसवीर बदल देने की भरपूर क्षमता है।

नए दौर के सुधार-कार्यक्रमो में अधिक उत्साह तथा तात्कालिकता की जरूरत है। इसका कारण यह है कि हम जनसंख्या की दृष्टि से विशेष संक्रमणकालीन दौर से गुजर रहे हैं। अगले कुछ दशकों में जनसंख्या की दृष्टि से भारत की विशिष्ट संरचना होगी और पहली बार ऐसा मौका होगा, जब इसके पास विश्व की सबसे अधिक आबादी होगी। जाहिर है कि इन दशकों के बाद बुढ़ापे की प्रक्रिया मे तेजी और कामकाजी आबादी की सामर्थ्य मे कमी आएगी। जिस प्रकार अपनी कक्षा में प्रवेश करने के लिए किसी उपग्रह को पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण बल से बाहर निकलने के लिए तेज गति की जरूरत होती है, उसी प्रकार हमारी अर्थव्यवस्था को भी गरीबी के चंगुल से मुक्त होने के लिए अगले दो दशकों के दौरान दो अंकोंवाली विकास-दर की आवश्यकता है।

जिस प्रकार अन्य चामत्कारिक अर्थव्यवस्थाओं ने इतनी उच्च विकास-दर प्राप्त की है, उसी प्रकार हमे भी कामकाजी आबादी के अधिकतम अंश की मदद से उच्च बचत तथा निवेश-दर कायम रखते हुए श्रम आपूर्ति एवं उत्पादकता बढ़ाकर इस लक्ष्य को संभव बनाना है।

नई शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था दोराहे पर खड़ी है। उसके पास परिस्थितियों को जस-का-तस रखने का विकल्प है, जिसके अनुसार निरंतर गरीबी और कम विकास-दर की स्थिति को कायम रखा जा सकता है या फिर सुधारों की

गति बढाकर हम समृद्धि की राह पर भी बढ सकते हैं इस राह पर चलते हुए
सन् 2020 तक भारत की प्रति व्यक्ति आय 1,000 डालर या 50 000 रुपए से
अधिक हो सकती है। परिणामस्वरूप देश से गरीबी और निरक्षरता का खात्मा
हो जाएगा तथा जीवन संभाव्यता में भी लगभग 10 वर्ष की वृद्धि हो सकेगी
और तब भारत 'आर्थिक सुपर पॉवर' कहलाएगा। फिलहाल मानव विकास
सूचकांक की दृष्टि से हमारी गिनती निचले पायदान पर खड़े 20 देशों में होती
है। सन् 2020 में हम ऊपरी 10 पायदानों पर खड़े देशों में गिने जा सकेंगे।
निस्संदेह यह सब संभव है, मगर इसके लिए हमें सर्वसम्मति से तीव्र गति से
सुधारों को अपनाना होगा।

□

ार्थिक सुधार : भविष्य के लिए नीतिगत एजेंडा

—मोंटेक एस. अहलूवालिया

. कुछ सकारात्मक विशेषताएँ

मौजूदा कमियो तथा उपलब्धियों को ध्यान में रखकर भविष्य के लिए ीतिगत एजेडा तैयार करना चाहिए। यह स्वाभाविक ही है कि इस विषय पर ञ्चार-विमर्श की सार्वजनिक प्रक्रिया के दौरान अकसर नकारात्मकता पर ज्यादा ोर दिया जाता है, जो हतोत्साहित करता है; लेकिन सच तो यह है कि नई सदी मे वेश करते समय हमारे पास कुछ महत्त्वपूर्ण मजबूत पहलू भी हैं। वे हैं—

क विकास की दृष्टि से हमारा प्रदर्शन अब पहले के मुकाबले काफी बेहतर है। आजादी के बाद पहले तीन दशको के दौरान विकास-दर मात्र 3.5 से 4 प्रतिशत ही रही थी। अस्सी के दशक मे भारत का सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी) 5.8 प्रतिशत की औसत दर से बढा है। आठवी योजना के दौरान (1992-93 से 1996-97 तक) यह 6 7 प्रतिशत तक बढ़ा तथा नौवीं योजना मे भी यह स्तर बने रहने की सभावना है। इससे लगता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था नई नीतियो के अनुसार खुद को ढाल रही है। आमतौर पर इस तथ्य को महसूस नहीं किया जाता कि अस्सी तथा नब्बे के दशकों के दौरान भारत की अर्थव्यवस्था तेज गति से विकास करनेवाली दुनिया की शुरू की 10 अर्थव्यवस्थाओं में से एक रही।

ख हमारी जनसंख्या की शैक्षिक कमियाँ पिछले काफी समय से विकास करने की हमारी क्षमता पर बोझ बनी हुई हैं। हम हमेशा ही अपने उच्च कुशलता प्राप्त कर्मियों, वैज्ञानिकों, प्रबंधकों तथा हाल के वर्षो में सॉफ्टवेयर प्रतिभाओं पर गर्व करते रहे हैं, लेकिन हमारी अधिकांश आबादी का शिक्षा का सामान्य स्तर काफी कम रहा है। सन् 1951 में

प्रौढ़ साक्षरता मात्र 18.3 प्रतिशत था। सन् 1960 में यह बढ़कर 28.? प्रतिशत तथा सन् 1971 में 34.4 प्रतिशत हो गई। इन वर्षों में हमारी निरंतर कम विकास-दर का एक कारण यह भी रहा है। राष्ट्रीय सामाजिक सेवा (एन एस एस.) द्वारा कराए गए सर्वेक्षण के अनुसार सन् 1996-97 में साक्षरता की दर बढ़कर 62 प्रतिशत हो गई। हालाँकि यह दर भी कम ही है, मगर 7-8 प्रतिशत की विकास दर प्राप्त करने के अनुकूल है।

ग. जनसंख्या-दर लंबे समय तक 2 प्रतिशत से अधिक रहने के बाद अब कुछ धीमी पड़ रही है। इस क्षेत्र में केरल की उपलब्धियों की गूँज अब तमिलनाडु में भी सुनाई दे रही है। लगता है कि आंध्र प्रदेश तथा कर्नाटक में भी जल्द ही यह इतिहास दोहराया जाएगा। उत्तरी भारत के राज्यों में जन्म-दर काफी ऊँची रही है, लेकिन अब यहाँ भी इसमें कमी आ रही है। अनुमान है कि अगले दशक में भारत की जनसंख्या विकास-दर घटकर 1.5 प्रतिशत हो जाएगी।

ये सकारात्मक बदलाव अगले दशक में हमारी विकास संभावनाओं पर महत्त्वपूर्ण असर डालेंगे। अगर जी.डी.पी. की मौजूदा 6.5 प्रतिशत की विकास-दर अगले दशक की शुरुआत में 7 प्रतिशत और अंत तक 8 प्रतिशत तक बढ़ाई जा सकी तो पूरे दशक की विकास-दर लगभग 7.5 प्रतिशत हो सकती है। हमने अतीत में जो विकास-दर हासिल की है, वह उन सबसे अधिक है और पूरे विकास चक्र को गति दे सकती है। यदि यह दर समुचित तरीके से वितरित होती है तो अगले दशक के अंत तक इससे गरीबी के स्तर में गिरावट सुनिश्चित है, यानी यह भी कहा जा सकता है कि इस स्तर की विकास-दर हासिल किए गए बिना जनता के जीवन स्तर में सुधार की उम्मीद नहीं की जा सकती।

अब यह तय करना है कि इस विकास-दर को प्राप्त करने तथा इसका आधार व्यापक करने के लिए हमें किन नीतियों की जरूरत है। सुखद स्थिति यह है कि आर्थिक नीतियों के मामले में राजनीतिक हलकों तथा पेशेवर (प्रोफेशनल) वर्ग में आम सहमति बन गई है। आर्थिक सुधारों को लेकर एक आम राय यह भी कायम हुई है कि इन सुधारों को और अधिक सुदृढ़ करने तथा पैना बनाने की जरूरत है। इस प्रक्रिया को आमतौर पर 'सुधारों की दूसरी पीढ़ी' कहा जाता है, परंतु ऐसा कहना पूरी तरह उपयुक्त नहीं है। दरअसल, ऐसा कहने से यह एहसास होता है कि हमने पहली पीढ़ी के सुधारों की प्रक्रिया सफलतापूर्वक

पूरी कर ली ह और अब अगल दौर मे कदम रखना है परतु सचाई इसके विपरीत है सुधार सबधा एजेडे का निम्नलिखित तीन श्रेणियो मे वर्गीकृत करना अधिक उपयुक्त हागा

1. इस एजेंडे का पहला विषय राजकोषीय अनुशासन कायम करना है और इस मुद्दे पर व्यापक सहमति भी है। दरअसल, ये पहली पीढ़ी के सुधार हैं, जिन्हे हम योजनानुसार कार्यान्वित नहीं कर पाए हैं।
2 दूसरी श्रेणी के अतर्गत उन पहली पीढ़ी के सुधारों को रखा जा सकता है, जो कमोबेश सही राह पकडे हुए हैं, लेकिन अपनी सुधार-नीति के कारण उन्हें हम धीमी चाल मे चला रहे हैं।
3. वास्तव मे, अंतिम श्रेणी के अंतर्गत दूसरी पीढ़ी से संबद्ध सुधार शामिल किए जा सकते हैं, जो सुधार-प्रक्रिया को उन नए क्षेत्रों तक ले जाएँगे, जिनपर अभी तक ध्यान नहीं दिया जा सका है।

1. वित्तीय अनुशासन

देश के सामने मुँह उठाए खडी वित्तीय समस्या की गंभीरता को देखते हुए अब इस पहलू को इसके व्यापक संदर्भों में समझने की जरूरत है।

सन् 1991 में जब आर्थिक सुधार लागू किए गए थे, तब देश गहरे आर्थिक सकट से जूझ रहा था। केंद्रीय सरकार का राजकोषीय घाटा इससे पिछले वर्ष मे जी डी पी. का 8.3 प्रतिशत हो गया था। सकट का मूल कारण भी यही रहा। समय की नजाकत को देखते हुए राजकोषीय सुधार करने की जरूरत महसूस की गई। पहले ही वर्ष में राजकोषीय घाटे में कमी आई। यह आँकड़ा जी डी.पी का 6 प्रतिशत दर्ज किया गया; लेकिन यह आँकड़ा भी अधिक था और अर्थव्यवस्था के लिए ससाधन जुटाने तथा ब्याज-दरो मे कमी लाने के लिए इस घाटे को और कम करने की आवश्यकता थी। वित्त मत्रालय द्वारा सन् 1993 मे जारी दस्तावेज में मध्यम अवधि के लक्ष्य के रूप में राजकोषीय घाटे को सन् 1996-97 तक लगभग 3 प्रतिशत करने की बात कही गई। दुर्भाग्यवश यह लक्ष्य कभी भी हासिल नहीं किया जा सका। सन् 1996-97 में वास्तविक घाटा 5 2 प्रतिशत का रहा और सन् 1997-98 के दौरान बढ़कर यह 6 प्रतिशत हो गया। तब से यह दर कमोबेश इसी स्तर पर बनी हुई है। नतीजतन ब्याज-दर काफी अधिक है।

इस बीच राज्यों की, विशेषकर कथित रूप से बेहतर प्रशासनवाले राज्यों की राजकोषीय स्थिति भी पहले के मुकाबले बिगड़ी ही है। राज्यों को केंद्र की

तरह बराक टोक ऋण लेने की छूट नहीं होती और इस कारण उनके घाटे पर स्वत: अंकुश लगा रहता है, लेकिन इस वजह से उनके गैर-योजनागत खर्चे बढ़ जाते हैं और विभिन्न आर्थिक सेवाओं की आपूर्ति को लेकर नुकसान बढ़ता चला जाता है। इस समस्या की गंभीरता का अनुमान इस बात से ही लगाया जा सकता है कि 1997-98 मे सभी राज्य बिजली बोर्डों का कुल घाटा सन् 11,000 करोड़ रुपए रहा। इसी प्रकार सिंचाई के क्षेत्र में केवल रख रखाव के खर्चों से सर्वाधित घाटा 20 अरब रुपए रहा। उधर राज्य सड़क परिवहन निगमों का घाटा 10 अरब रुपए ही रहा।

इतने अधिक घाटे को देखकर स्पष्ट है कि प्रादेशिक सरकारें अपने योजनागत खर्चों से सबंधित लक्ष्य पाने मे असफल रहीं। आठवीं योजना (1992-93 से 1996-97 तक) में राज्यो का योजनागत खर्च पूर्व-निर्धारित लक्ष्य से 20 प्रतिशत कम रहा था। पाँचवे वेतन आयोग के असर के कारण नौवीं योजना मे यह स्थिति और भी बिगड़ गई है। कुछ राज्यों में तो स्थिति इतनी खराब हो चुकी है कि वे अपने कर्मचारियों को वेतन भी नहीं दे पा रहे हैं।

इन स्थितियों में सुधार नहीं करने के परिणाम हमारे सामने हैं। घाटों का ऊँचा आकार हमारी मौजूदा ऊँची ब्याज-दर को और बढ़ाएगा, जिससे अर्थव्यवस्था मे निवेश को और अंततः छोटे उत्पादकों को सबसे अधिक नुकसान होगा। योजनागत खर्च के स्तर में कमी से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के लिए आवश्यक सार्वजनिक निवेश पर खतरा मँडराएगा और नतीजतन हमारे विकास-लक्ष्य प्रभावित होंगे। हालाँकि इसका अर्थ यह नहीं है कि विकास पूरी तरह से योजनागत खर्च पर टिका है या फिर इस प्रकार का खर्च हर दृष्टि से उचित होता है। 7 या 8 प्रतिशत का विकास लक्ष्य हासिल करने के लिए आवश्यक अधिकांश निवेश को निजी निवेशकों से जुटाया जाना चाहिए। दरअसल, कई क्षेत्र ऐसे है, जहाँ योजनागत खर्च के स्थान पर निजी निवेश को लाने की जरूरत है। सन् 1990-91 में योजनागत खर्च में केंद्र तथा राज्यों का कुल अनुपात जी.डी.पी. का 11.3 प्रतिशत रहा और वर्तमान मे यह घटकर 9 प्रतिशत के आस-पास है। इसके कारण कई क्षेत्रों में निवेश रुका है, जो विकास-दर को 7-8 प्रतिशत तक करने के लिए जरूरी था।

संसाधनों मे कमी के कारण कृषि के क्षेत्र मे भी विकास की क्षमता पर सीधा असर पड़ा है। गरीबी घटाने की हमारी रणनीति के तहत कृषि विकास को बढ़ाने तथा ग्रामीण विकास का आधार व्यापक करने की जरूरत है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमें सिंचाई, भूमि-विकास, मिट्टी एवं नमी संरक्षण, कृषि अनुसंधान,

कृषि-विपणन सुविधाओं के विकास तथा ग्रामीण क्षेत्रो के साथ संपर्क-सुविधा में सुधार के लिए देहातों एवं जिले की सड़को के रख-रखाव और विस्तार हेतु निवेश को अधिक व्यापक बनाना होगा।

स्वास्थ्य तथा शिक्षा के क्षेत्रों में, विशेषकर देहातों में तो और भी अधिक निवेश की जरूरत है, ताकि हमारे सामाजिक विकास संकेतक अन्य विकासशील देशों के संकेतको के समतुल्य हो सकें। यह निवेश भी सार्वजनिक उपक्रमों से ही आएगा। अन्य ढाँचागत क्षेत्रों, जैसे—बिजली उत्पादन तथा वितरण, बंदरगाह, हवाई अड्डों, दूरसचार, राष्ट्रीय राजमार्गो आदि में निजी क्षेत्र पहले के मुकाबले अधिक बड़ी भूमिका निभा सकते है। अत: इसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। अलबत्ता इन क्षेत्रों में भी सार्वजनिक निवेश आनेवाले काफी लंबे समय तक महत्त्वपूर्ण बना रहेगा।

इसलिए अगले दशक के राजकोषीय लक्ष्यों के दो पहलू निर्धारित करने चाहिए। हमें राजकोषीय घाटे को आवश्यक रूप से कम करना होगा, ताकि निजी निवेश के लिए संसाधन उपलब्ध हो सके, लेकिन साथ ही हमें महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों मे सार्वजनिक निवेश भी बढ़ाना होगा। सन् 1998-99 के दौरान राज्यां तथा केंद्र का सयुक्त राजकोषीय घाटा जी डी पी. का 8 5 प्रतिशत रहा। वित्त मत्री पहले ही कह चुके हैं कि केंद्र के राजकोषीय घाटे को अगले 3 वर्षों में घटाकर लगभग 2 प्रतिशत तक करने की कोशिश करनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि अगले 3 वर्षो में राज्यों तथा केंद्र का संयुक्त राजकोषीय घाटा 4 5 प्रतिशत के स्तर तक आना चाहिए। इसके साथ ही हमें केंद्र तथा राज्यों के कुल योजनागत खर्च में मौजूदा स्तर के मुकाबले 1.5 प्रतिशत की वृद्धि करने के प्रयास करने चाहिए। इन दोनों लक्ष्यों को अगले 3 वर्षो के दौरान हासिल करने के लिए जी.डी पी. के 5.5 प्रतिशत या 1.8 प्रतिशत अंक प्रतिवर्ष के लगभग राजकोषीय सुधार करने की आवश्यकता है।

यह सुधार थोडा केंद्र के द्वारा और थोड़ा राज्यों के द्वारा किया जाना है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अगले 3 वर्षो में 5 5 प्रतिशत का राजकोषीय सुधार कर पाना यकीनन काफी मुश्किल काम है। इसके लिए एक या दो उपकरणों को सुधारने भर से ही काम नही चलनेवाला, बल्कि अनेक मोरचो पर कार्यवाही करनी होगी। इसमे से कुछ इस प्रकार हैं—

अधिक राजस्व वसूली के लिए कर-प्रशासन में सुधार

भारतीय कर-प्रणाली का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट होती है कि यह प्रणाली अब पुरानी पड चुकी है और इसमें निहित प्रक्रियाएँ भी काफी जटिल तथा

भारी-भरकम हैं। साथ ही दरों की अनेक प्रकार की छूट और विवेकाधिकार के बड़े क्षेत्र के चलते करदाताओं द्वारा कर से बचना तथा कर प्राधिकरण द्वारा उत्पीड़न करना आम बात है। इस प्रणाली में सभी स्तरों पर भ्रष्टाचार व्याप्त है और कर वसूली में कमी का प्रमुख कारण भी यही है। अन्य देशों के अनुभवों से पता चलता है कि कर-सुधारों के जरिये कर की दरें बढ़ाए बगैर थोड़े समय में ही जी.डी.पी. के 3 प्रतिशत के बराबर अतिरिक्त कर-वसूली हो सकती है। इस तरह राजकोषीय सुधार के तहत निर्धारित लक्ष्यों का आधा भाग तो कर-सुधारों को प्रभावी ढंग से लागू करने पर ही प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए 'कर प्रशासन में सुधार' और 'कराधार को व्यापक बनाने' के जुमलों को हटाकर छूट हटाने के ठोस उपायों, कई प्रकार की दरों की संख्या घटाने तथा प्रक्रियाओं के आधुनिकीकरण पर जोर दिया जाना चाहिए। इस संदर्भ में नई 'कर-सुधार समिति' जल्द ही अपनी सिफारिशें पेश करेगी।

रिआयतों (सब्सिडी) में कमी

लगभग हर व्यक्ति रिआयतों में कमी लाने की हिमायत करता है, परंतु इस मामले में विशेष प्रस्तावों के पेश होते ही यह भ्रम सहमति नदारद हो जाता है। इसके बावजूद हमारी प्रणाली में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रिआयतों की मात्रा ऐसे स्तर तक आ पहुँची है जहाँ उसे बनाए रखना काफी कठिन है। केंद्र द्वारा प्रमुख रूप से उर्वरकों, खाद्यान्न और चीनी में रिआयत दी जाती है। सन् 1999-2000 के बजट अनुमानों के आधार पर यह राशि 240 अरब रुपए थी। वास्तव में यह राशि अधिक भी हो सकती है। इसके अलावा उच्च शिक्षा, अस्पताल-सेवाओं, रेलगाड़ियों, डाक-सेवाओं आदि पर भी भारी रिआयतें दी जाती हैं। मिट्टी तेल पर 80 अरब रुपए तथा एल.पी.जी. पर लगभग 40 अरब रुपए की रिआयत दी जा रही है। इन रिआयतों को सीधे बजट में से न मुहैया कराकर अन्य पेट्रोलियम उत्पादों, जैसे-पेट्रोल तथा एविएशन ईंधनों में अधिक वसूली के द्वारा वसूला जाता है। ये रिआयतें विशेष रूप से गरीब वर्ग के लिए न होकर वास्तव में उच्च आय वर्ग या औसत उपभोक्ता के लिए दी जाती हैं; परंतु रिआयतों के बोझ के चलते सरकार उन कार्यक्रमों पर प्रभावी रूप से खर्च नहीं कर पाती, जो व्यापक आधारवाली विकास प्रक्रिया को बढ़ावा देंगे और जिससे व्यापक हित जुड़े हों।

इसी प्रकार प्रादेशिक सरकारों पर भी रिआयतों का भारी बोझ है, जिसे कम किया जाना चाहिए। अधिकतर राज्यों में किसानों को बिजली उसके उत्पादन खर्च की महज 10 या 20 प्रतिशत कीमत पर या मुफ्त उपलब्ध कराई जा रही है। इसी

प्रकार घरेलू बिजली उपभोक्ताओं और बस यात्रियों से लेकर सिंचाई के पानी और उच्च शिक्षा के बदले भी कम धनराशि वसूली जा रही है।

रिआयतों को पूरी तरह समाप्त करने की बजाय उनमें भारी कमी लाने की जरूरत है तथा कुछ लक्षित क्षेत्रों में इन्हें जारी रखा जाए।

सरकार के आकार में कमी

रेलवे और डाक समेत कई सरकारी विभागों में आवश्यकता से अधिक मानव श्रम को रखा गया है। उसपर सरकारी विभागों की संख्या भी काफी है। उदारीकृत अर्थव्यवस्था मे विनियमित तथा नियत्रित अर्थव्यवस्था के मुकाबले काफी कम मंत्रालयों और विभागों की आवश्यकता होती है। पाँचवें वेतन आयोग ने सरकार के आकार में आगामी वर्षो में 30 प्रतिशत तक कमी लाने की सिफारिश की है। हालाँकि कई बार सरकार के आकार मे कमी के प्रस्तावों का विरोध यह कहकर किया जाता है कि बेरोजगारी की समस्या काफी गंभीर है और सरकारी सेवा मे रोजगार के अवसर बने रहते हैं; लेकिन अनावश्यक मानव श्रम पर खर्च हो रही धनराशि को बचाकर उसे अधिक जरूरी आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचागत संरचना में निवेश करने से अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में रोजगार के कहीं अधिक अवसर जुटाए जा सकते हैं। हमें यह तथ्य स्वीकार करना ही होगा कि सरकार का उद्देश्य आवश्यक सेवाओं को कुशलतापूर्वक उपलब्ध कराना है, न कि रोजगार जुटाना।

निजीकरण को बढ़ावा

कई विकासशील देश अपने सार्वजनिक उपक्रमो मे व्यापक स्तर पर निजीकरण करने के बाद अपनी राजकोषीय स्थिति सुधारने में सफल रहे हैं। यह विकल्प हमारे लिए भी खुला है। राज्यो को चाहिए कि केंद्र द्वारा पहले ही शुरू की जा चुकी इस प्रक्रिया को अपनाएँ।

योजनाओं की प्राथमिकताओं का पुनर्निर्धारण

योजनागत खर्च के तहत प्राथमिकताओं के पुनर्निर्धारण की जरूरत है, ताकि संदेहास्पद योजनाओं को हटाया जा सके। कई मूल्यांकन अध्ययनों से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि हमारी कई योजनाएँ अच्छे इरादों के साथ शुरू किए जाने के बावजूद अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाईं या सीमित स्तर पर ही कामयाब रहीं। इस प्रकार वे अंततः कीमतों की दृष्टि से निष्प्रभावी रहीं। इसका कारण योजना का स्वरूप तय करने मे कमी और अपर्याप्त प्रशासनिक क्षमता का होना रहा है। दुर्भाग्यवश इसके बावजूद ये योजनाएँ जारी रहती हैं और उन संसाधनों

को सोखती चली जाती हैं, जिन्हें दूसरे क्षेत्रों में इस्तेमाल किया जा सकता था। इन योजनाओं से जुड़ी प्रशासनिक एजेंसियाँ निहित स्वार्थों के तहत इन्हें जारी रखती हैं और योजनाओं की आलोचना की स्थिति में बेहतर प्रशासनिक एवं निगरानी तंत्र की जरूरत दिखाकर अधिक स्टाफ तथा अधिक संसाधनों की माँग पेश करती हैं लेकिन तमाम योजनाओं की जाँच नए सिरे से तथा गैर-प्रभावी योजनाओं को तुरंत समाप्त करने से जो संसाधन उपलब्ध हो सकेंगे, उनका इस्तेमाल अधिक महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी योजनाओं के लिए किया जा सकता है।

लेकिन इन सुझावों के आधार पर सुधार-प्रक्रिया लागू करना सरल नहीं होगा। प्रत्येक प्रस्ताव को अलगाव में रखकर उसपर विचार करने में विवाद उत्पन्न होने की संभावना है। लेकिन यह भी सच है कि जी.डी.पी. के 5.5 प्रतिशत के बराबर मात्रा का राजकोषीय सुधार इन प्रयासों के बिना नहीं हो सकता, लेकिन दुर्भाग्यवश हमारी मौजूदा व्यवस्था में, जहाँ बजट को लेकर पूरी गोपनीयता बरतने की परंपरा का पालन किया जाता है, इस प्रकार के विकल्पों में शुरुआत आसान काम नहीं है। गुपचुप तरीके से कठिन निर्णय नहीं लिये जा सकते। इनके लिए विचार विमर्श तथा प्रतिक्रियाओं के आदान-प्रदान के द्वारा आम राय तैयार करनी होगी।

इस प्रकार के कठिन फैसले लेने की जरूरत को इस बात से बेहतर तरीके से समझा जा सकता है कि कुछ देशों में बजट प्रस्तुत करने के दौरान ही अगले वर्षों के बजट की भी हलकी-फुलकी रूप-रेखा बता दी जाती है। इससे फायदा यह होता है कि हमें उन प्रयासों की विस्तृत तसवीर दिखाई पड़ती है, जो हमें अपने लिए निर्धारित लक्ष्यों के लिए अगले 2-3 वर्षों में करने होते हैं। इस दृष्टि से देखें तो हमारे वर्तमान प्रयास तभी कुछ कम हो सकते हैं जब हम आनेवाले काल के लिए कहीं अधिक कोशिशों पर अमल की योजना तैयार करें।

3. पहली पीढ़ी के सुधार

राजकोषीय सुधारों के साथ-साथ हमें उन सुधारों पर भी ध्यान देना होगा, जो आरंभ में तैयार की गई योजनानुसार जारी तो हैं, परंतु जिन्हें पूरा करने या फिर नए घटनाक्रम के संदर्भ में कुछ हद तक संशोधित करने की जरूरत है।

औद्योगिक विनियमन

औद्योगिक लाइसेंसिंग का उदारीकरण तथा उद्योग को विदेशी निवेश के लिए खोलना पहली पीढ़ी के सुधारों का अहम हिस्सा थे। जहाँ तक केंद्रीय सरकार के नियंत्रणों का सवाल है, यह कहना होगा कि इस दिशा में संतोषजनक प्रगति हुई

है , परियोजनाएँ लागू करते समय निवेशकों को अब भी दिक्कतें पेश आती है, मगर ऐसा राज्यों के स्तर पर होता है। यह क्षेत्र दूसरी पीढ़ी के सुधारों के अंतर्गत आता है। अलबत्ता औद्योगिक विनियमन के कुछ क्षेत्रों मे अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

चीनी उद्योग ऐसा ही एक क्षेत्र है। चीनी एक प्रमुख कृषि-आधारित उद्योग हैं तथा सूती कपडे के बाद इसी उद्योग ने सबसे अधिक रोजगार मुहैया कराया है। अन्य उद्योगों की तरह चीनी उद्योग के लिए भी उदारीकरण फायदेमंद है, लेकिन मौजूदा दोहरी मूल्य-प्रणाली के चलते इस उद्योग पर अब भी कई तरह के नियंत्रण हैं। किसानों को दी जानेवाली प्रादेशिक सरकारों द्वारा समर्थित कीमतो का संबंध प्राय· बाजार की स्थितियों से नहीं होता। कुल उत्पादन का कुछ हिस्सा लेवी चीनी के तौर पर बिना लाभ के मूल्यों पर उपलब्ध कराना होता है। यही नहीं, मुक्त बाजार की चीनी पर भी नियंत्रण रहते हैं। चीनी उद्योग को आयातित चीनी को लेकर शिकायत है कि लेवी चीनी जैसी अवधारणा से उसके मुक्त होने के कारण प्रतियोगिता के असमान अवसर हैं, यानी चीनी को नियंत्रण मुक्त करने तथा इस क्षेत्र को बाजार के लिए खोलने के पुख्ता कारण मौजूद हैं। यदि चीनी को सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पी.डी एस.) में शामिल करना जरूरी है तो इसे बाजार भाव पर खरीदना चाहिए तथा बजट में इसका अलग प्रावधान होना चहिए। वस्तुतः चीनी को पी.डी एस. से हटाने की जरूरत है।

इसी प्रकार कोयला क्षेत्र में भी औद्योगिक विनियमन होना चाहिए। यह महत्त्वपूर्ण ऊर्जा स्रोत है। फिलहाल खनन को छोड़कर इस क्षेत्र में निजी निवेश को अनुमति नही दी गई है। यदि पेट्रोलियम क्षेत्र को निजी निवेश के लिए खोला जा सकता है तो कोयला क्षेत्र में भी ऐसा किया जाना चाहिए। ऐसा करने से इस उद्योग मे प्रतिस्पर्धा में तेजी के साथ-साथ नई प्रौद्योगिकी भी आएगी। चूँकि कोयला-खनन एक कठिन क्षेत्र है और पर्यावरण-संबंधी मंजूरी मिलने में समय लगना निश्चित है। इसलिए यदि हम आगामी 6-7 वर्षो मे अतिरिक्त उत्पादन चाहते है तो हमें अभी से इस दिशा में सक्रिय होना पड़ेगा।

उधर लघु क्षेत्रों के लिए कुछ उत्पादो को आरक्षित रखने की नीति पर भी विचार-विमर्श करने की जरूरत है। कुछ विशेषज्ञों का तर्क है कि लघु उद्योग क्षेत्र की मदद करने का यह तरीका उचित नहीं है। दरअसल, आमतौर पर इस तथ्य की अनदेखी की जाती रही है कि लघु उद्योगों के लिए आरक्षित क्षेत्रों मे विकास की रफ्तार अनारक्षित लघु उद्योगो की तुलना में कहीं कम रही है। हालाँकि यह बड़ा नाजुक विषय है और इसपर आम सहमति बनाने मे समय लगेगा। फिर भी मिले-

सिलाए वस्त्रों, खिलौनों तथा चमड़े के जूते-चप्पलों के निर्माण मे [illegible] क्षेत्रों को तुरत प्रभाव से अनारक्षित कर देना चाहिए, जिनमे निर्यात की पर्याप्त क्षमता मौजूद है। सन् 1997 में भारत ने 7 करोड़ अमेरिकी डॉलर के [illegible] के, खिलौनों तथा खेल-कूद के सामान का निर्यात किया, जबकि चीन का यह आँकड़ा [illegible] अरब अमेरिकी डॉलर, अर्थात् भारत की तुलना में 120 गुना अधिक था। इसी प्रकार भारत ने 35 करोड़ अमेरिकी डॉलर मूल्य के जूते चप्पल निर्यात किए, जबकि चीन यहाँ भी 8 अरब अमेरिकी डॉलर मूल्य का निर्यात कर भारत से [illegible] गुना अधिक निर्यात करने में सफल रहा। दरअसल, इन क्षेत्रों के आरक्षण से, [illegible] का उद्योग उस हद तक गतिशील निर्यात नहीं कर पा रहा है, जिसकी [illegible] बाजारों तक पहुँच न होने की शिकायत कर सकते हैं, परंतु [illegible] महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में लाभ की स्थिति में हम है, वहाँ हमारी अपनी नीतियाँ हमें अंतरराष्ट्रीय बाजारों मे पैठ करने से रोकती रही है।

अर्थव्यवस्था को व्यापार के लिए खोलना

अर्थव्यवस्था को विदेशी व्यापार के लिए खोलना भी हमारे सुधार कार्यक्रम का अहम हिस्सा था। इस क्षेत्र में आधे से अधिक सुधार प्रक्रिया पूरी हो चुकी है। सरकार ने घोषणा की है कि सन् 2003 तक सभी मात्रात्मक प्रतिबंध हटा लिए जाएँगे। फिलहाल चरणबद्ध ढंग से यह किया भी जा रहा है। इस संबंध में समय सीमा स्पष्ट है। भारतीय उद्योग जगत ने इसे स्वीकार भी कर लिया है। सरकार ने इस बात के भी संकेत दिए है कि शुल्क दरों को आगामी 3 वर्षों में पूर्वी एशियाई देशों के मुताबिक तय किया जाएगा।

हालाँकि कुछ लोग मानते हैं कि शुल्क-दरों में कमी से अब भारतीय उद्योग विदेशी प्रतिस्पर्धा के सामने टिक नहीं पाएगा, परंतु यह गलत धारणा है। पिछले वर्षों में भी शुल्क-दरों में भारी कमी होने के बावजूद भारतीय उद्योग प्रतियोगिता में रहा है। अब ऐसा कोई कारण नजर नहीं आता कि आनेवाले वर्षों में भी इस प्रक्रिया को जारी न रखा जाए।

विनिवेश तथा निजीकरण

विनिवेश का भी अभी ऐसा नया क्षेत्र है, जहाँ सुधारों को और ऊँचे स्तर तक लेकर जाना है। इन सुधारों की शुरुआत 'विनिवेश' की प्रक्रिया से हुई है और इसके बाद भी सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में सरकार की अधिकांश हिस्सेदारी बनी हुई है। संयुक्त मोर्चा सरकार ने गैर बुनियादी तथा गैर सामरिक क्षेत्रों के उपक्रमों में सरकार की अंशभागिता को अल्पमत में लाने की इच्छा जताई थी।

वर्तमान सरकार ने एक कदम आगे जाकर यह घोषणा कर डाली कि सभी क्षेत्रों में सरकार का हिस्सा घटाकर 26 प्रतिशत तक कर दिया जाएगा। फिलहाल मॉडर्न फूड और बाल्को में प्रबंधन मे बदलाव सहित विनिवेश प्रस्तावो पर कार्य चल रहा है। साथ ही आई.पी.सी.एल. के लिए सहयोगी की तलाश भी जारी है।

इस बीच जनता के मन में इस बात को लेकर अनिश्चितता बनी हुई है कि इस दिशा में सरकार की सीमा क्या होनी चाहिए। कई लोगों का मानना है कि सार्वजनिक क्षेत्र के कमजोर उपक्रमों की बिक्री और प्रबंधन मे बदलाव उचित है, परन्तु कथित 'नवरत्नों' मे सरकार को अपनी अधिकांश हिस्सेदारी नहीं छोड़नी चाहिए। जहाँ तक अधिकांश स्वामित्व का सवाल है, इस बारे में हमे छोडे बगैर यह स्पष्ट होना चाहिए कि अनेक नवरत्नों के इक्विटी अंश में से वांछित राजकोषीय सुधारो का लक्ष्य हासिल नहीं किया जा सकता। इसलिए जनता को इस बात के लिए राजी करना जरूरी है कि इस प्रकार का विनिवेश या निजीकरण समाज के लिए अधिक उपयोगी परिसंपत्तियों, जैसे—स्कूल, अस्पताल, ग्रामीण ढाँचागत सुविधाओं आदि के निर्माण मे मदद ही पहुँचाएगा। हमें यह भी नहीं मान लेना चाहिए कि विनिवेश से अर्जित राजस्व को दूसरे सार्वजनिक उपक्रमों में निवेश किया जाएगा। हमें यह समझना होगा कि हमारे लिए सर्वोत्तम क्या है और यदि स्कूल, पुल, सड़कें आदि से अधिक लाभ पहुँचता हो तो हमें निश्चित तौर पर उनका निर्माण करना चाहिए।

हमारी राजकोषीय समस्या को देखकर यह कहा जा सकता है कि यदि संभव हो तो सन् 1999-2000 के दौरान विनिवेश का स्तर 10,000 करोड़ रुपए से अधिक रखा जाना चाहिए। विनिवेश के प्रति हलकी-फुलकी दृष्टि रखने से इस लक्ष्य को हासिल नहीं किया जा सकता। हमें विनिवेश के वार्षिक नियोजन को छोड़कर यह तय करना होगा कि अगले 2-3 वर्षों में कितने प्रयासों की आवश्यकता है। इस आधार पर ही हमें उन कंपनियों की पहचान करनी होगी, जिनमें विनिवेश करना है तथा यह भी कि अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए इन कंपनियों में किस हद तक विनिवेश करना जरूरी है। सरकार ने इस बात के संकेत दिए हैं कि वह विनिवेश के लिए अलग प्रक्रिया अपनाने तथा इसके लिए अलग इकाई गठित करने के बारे में विचार कर रही है। यह कदम स्वागत योग्य है। इस कार्य में सफलता तभी मिल सकती है, जब उन सार्वजनिक उपक्रमो को संबद्ध मंत्रालय के प्रशासनिक नियंत्रण से मुक्त कर उन्हें नई इकाई मे स्थानांतरित करने की इच्छाशक्ति हममें होगी, जिनका निजीकरण किया जाना है। हालाँकि मंत्रालय के विचारों पर भी गौर

किया जाएगा परतु विनिवेश तथा निजीकरण की गति और तौर तरीके तय करने का अधिकार इस नई इकाई के पास ही होगा।

कपनी के विनिवेश की प्रक्रिया, अर्थात् उसे व्यापक आधारवाले निवेशकों के हाथों बेचा जाएगा या फिर एक ही खरीदार के हाथों पूरी कंपनी बेच दी जाएगी अथवा उसके संचालन में नए सहयोगी को शामिल किया जाएगा, जैसे—मुद्दों पर फैसला उपक्रम विशेष को देखकर लिया जाएगा तथा किसी विशिष्ट फैसले के पीछे मौजूद तर्क को पारदर्शी बनाया जाएगा। हमें जनता को भी यह समझाना होगा कि सरकार की इक्विटी घटाने से चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है। हमारा लक्ष्य नवरत्नों को कॉरपोरेट जगत् के सक्रिय अंग के रूप में मजबूत बनाने का होना चाहिए, ऐसा नहीं कि वे सरकार के नियत्रण से ही बाहर हो जाएँ। दरअसल, पूरे तर्कों के साथ यह बताया जा सकता है कि वाणिज्यिक स्वायत्तता और प्रतिस्पर्धी बाजारों में अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने के लिए इन उपक्रमों पर से सरकारी वर्चस्व को समाप्त करना बेहद जरूरी है। सच तो यह है कि किसी को भी इस बात पर यकीन नहीं है कि स्वामित्व की दृष्टि से सरकार की मौजूदगी से किसी कंपनी के बाजार-मूल्य मे कोई वृद्धि होती है। यह बात मारुति उद्योग के बारे में जितनी सच है, उतनी ही भारतीय इस्पात निगम लिमिटेड (सेल) के बारे में और उतनी ही भारतीय तेल निगम (आई ओ पी) के बारे मे भी।

वित्तीय क्षेत्र के सुधार

वित्तीय क्षेत्र मे भी पहले दौर के सुधार जारी हैं, लेकिन इस प्रक्रिया की रफ्तार मे तेजी लाने की जरूरत है। भारतीय रिजर्व बैंक ने बेसल समिति द्वारा निर्धारित अंतरराष्ट्रीय मापदडों की कसौटी पर खरा उतरने के लिए बैंकिंग क्षेत्र में विवेकपूर्ण तथा विनियमन मापदंडों का स्तर ऊँचा उठाने की दिशा में सराहनीय कार्य किया है। पूर्वी एशियाई संकट के बाद वित्तीय क्षेत्र की कमजोरियों को लेकर बढ़ती चिंताओ के मद्देनजर भविष्य में सभी विकासशील देशों पर अंतरराष्ट्रीय एजेंसियों द्वारा अधिक ध्यान दिया जाना तय है। हालाँकि हमें अभी और आगे जाना है, लेकिन दरारों को पाटने का काम काफी हद तक किया जा चुका है।

अगला चरण, अर्थात् यह सुनिश्चित करना कुछ मायनों में अधिक कठिन है कि हमारे बैंक, विशेषकर सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक नए मापदंडों का पूरा स्तर रखें हैं या नहीं, और यह भी कि ऐसा करते समय क्या वे विदेशी और निजी बैंकों के साथ प्रभावी तरीके से प्रतियोगिता मे डटे रह पाते हैं? बैंकिंग क्षेत्र में, प्रौद्योगिकी मे बदलाव होने और विशेषकर सूचना प्रौद्योगिकी के आने से प्रतिस्पर्धा मे तेजी

आएगी जो बैंक अधिक गतिशील होंगे और नई प्रौद्योगिकी को अपनाएंगे वे अपनी व्यापक शाखाएँ न होने के बावजूद बाजार के एक बडे हिस्से पर कब्जा जमाने में कामयाब हो सकेंगे। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों, जिनकी मजबूती का मुख्य आधार उनका व्यापक शाखा-तंत्र है, को इस चुनौती से निपटने के लिए तैयार रहना चाहिए। उन्हें कई प्रकार से पुनर्गठन के लिए स्वायत्तता तथा लचीलेपन की जरूरत होगी। उन्हें कर्मियों की भरती तथा प्रोन्नति के मामले मे स्वायत्तता की आवश्यकता होगी, बैंकिंग विशेष की उत्पादकता, लाभ आदि की स्थिति के अनुसार उन्हे वेतन-समझौतों पर बातचीत की स्वायत्तता चाहिए और साथ ही अतिरिक्त स्टाफ के मामले में स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति (वी आर एस.) आदि योजनाएँ भी जरूरी हैं।

ये सभी काफी जटिल विषय है। इनपर कई निहितार्थ तत्त्वों तथा आम जनता की भी पहली प्रतिक्रिया नकारात्मक हो सकती है, लेकिन बैंकिग प्रणाली के हितों के मद्देनजर हमें इन बदलावो के बारे में दृष्टिकोण बदलने तथा अधिक समझ पैदा करने की जरूरत है। हो सकता है कि इनमें से कुछ समस्याओं से निकट भविष्य में ही दो-चार होना पड़े।

वित्तीय क्षेत्र में एक प्रमुख सकारात्मक बदलाव बीमा क्षेत्र को निजी क्षेत्र के लिए खोले जाने के रूप में आया है। इस कदम से निजी क्षेत्र का प्रवेश इसमे हो सकेगा। मजबूत तथा प्रतिस्पर्धी बीमा उद्योग लबी अवधि की बचत को मजबूती देने के साथ-साथ उपभोक्ता-सेवा में सुधार लाने तथा पूँजी बाजारो के लिए लबी अवधि के वित्त-प्रवाह का वाहक बनेगा। ढाँचागत क्षेत्र के वित्त-पोषण के लिए यह अत्यावश्यक है। हमें याद रखना होगा कि इस क्षेत्र में किसी भी नए खिलाडी को कोई मुकाम हासिल करने में 5-6 वर्षो का समय तो लग ही जाएगा। अत- नई बीमा कंपनियों द्वारा ढॉचागत प्रणाली के लिए वित्त उपलब्ध कराने की संभावना इस दशक के दूसरे अर्ध-भाग मे ही है। इससे यह स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया को यथाशीघ्र शुरू किए जाने की आवश्यकता है।

ढॉचागत विकास का निजी वित्त-पोषण

ढॉचागत विकास के लिए निजी निवेश भी पहले दौर के सुधारों में शामिल है, लेकिन इन्हें आगे बढ़ाने के लिए जोरदार प्रयास करना जरूरी है। वर्तमान के अधिक खुले तथा प्रतियोगी माहौल मे तेज रफ्तार से विकास के लिए उच्चस्तरीय अतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा की जरूरत है। इसके लिए उच्चस्तरीय ढॉचागत व्यवस्था चाहिए; लेकिन दुर्भाग्यवश हमारी सड़के, बिजली, बंदरगाह, दूरसंचार आदि ढॉचागत सरचना अपर्याप्त है। मात्रा के साथ-साथ गुणवत्ता की दृष्टि से भी इनमें गंभीर

खामियाँ है। हालाँकि इन सभी क्षेत्रों मे सार्वजनिक निवेश की महत्त्वपूर्ण भूमिका बनी रहेगी लेकिन ये आवश्यकताएँ इतनी अधिक है कि इनमें निजी निवेश को भी शामिल करना पड़ेगा। गुणवत्ता में सुधार के लिए निजी निवेश विशेष रूप से मददगार साबित होता है।

बिजली तथा दूरसंचार क्षेत्रो को प्रथम दौर के सुधारों के तौर पर निजी क्षेत्र के लिए खोला गया था और बाद में इन्हे बंदरगाहो हवाई अड्डो तथा सड़को पर भी लागू किया गया। अब तक इसके मिले-जुले नतीजे प्राप्त हुए हैं। सुखद समाचार यह है कि इन सभी क्षेत्रों मे निवेश आकर्षित करना संभव हो सका। निजी क्षेत्र द्वारा लगभग 9,000 मेगावाट क्षमता की बिजली तैयार की जा चुकी है या इस पर काम जारी है। सेल्युलर फोन तथा दूरसंचार की अन्य मूल्यवर्धित सेवाओ के मामले में भी निजी निवेश में काफी सुधार हुआ है। इसी प्रकार बन्दरगाहों तथा कोचीन में पिछले दिनो खोले गए देश के पहले संयुक्त क्षेत्र के हवाई अड्डे के लिए भी निजी निवेश जुटा लिया गया। जो लोग यह कहते हैं कि कुछ भी हासिल नहीं किया जा सका है, उन्हें दरअसल ठीक जानकारी नहीं है। अलबत्ता जो नतीजे मिले हैं, वे अपेक्षा से कम है। एक बात यह भी है कि इन सभी क्षेत्रों में अलग अलग कारणों से कार्यान्वयन के मामले में गंभीर समस्याएँ पेश आई हैं।

बिजली के क्षेत्र में राज्य बिजली बोर्डों की खस्ता हालत के कारण निजी बिजली-उत्पादकों के लिए आवश्यक वित्त जुटाना काफी कठिन होता है। दरअसल असंगत शुल्क, दरों और वितरण के स्तर पर ही प्रेषण तथा वितरण बरबादी के कारण राज्य बिजली बोर्डों के साथ विश्वसनीयता का संकट है। इस क्षेत्र की बेहतरी के लिए सुधारों की शुरुआत शुल्क-सुधार तथा वितरण के निजीकरण से की जानी चाहिए थी। उधर दूरसंचार क्षेत्र को भी कई प्रकार की परेशानियाँ घेरे हुए हैं। दरअसल, नए निजी निवेशकों द्वारा लाइसेंस-शुल्क सरीखे अपने दायित्व न निभा पाने तथा विनियमन प्राधिकरण के अधिकार-क्षेत्र और शक्तियों को लेकर भी विवाद बने हुए हैं।

इन तमाम मुद्दों की गहराई में जाए बगैर यह कहा जा सकता है कि विनियमित ढाँचागत क्षेत्रों के लिए निजी निवेश जुटाना वास्तव में कहीं अधिक जटिल कार्य है। निजी निवेशकों को मूल्य-विनियमन का पालन करने के साथ-साथ कुछ बड़े सार्वजनिक उपक्रमों के एकाधिकार से भी जूझना पड़ता है। यदि शुल्क-व्यवस्था लाभप्रद न हो या फिर जनता की नजरों में वे अनुचित हों तो मूल्य-विनियमन के कारण दिक्कतें पैदा हो सकती हैं। इसी प्रकार बड़े सार्वजनिक

उपक्रमो को एकाधिकार की स्थिति से निपटना भी अपने-आप में मामूली समस्या नहीं है। निजी दूरसचार कंपनियो को अतर-संपर्क के लिए सार्वजनिक दूरसचार प्रणाली के साथ तालमेल बैठाना होता है। निजी बंदरगाहो को रेल-संपर्क के लिए रेलवे से संपर्क साधना पड़ता है। ऐसे में जरूरी है कि निजी निवेशकों को ऐसा माहौल उपलब्ध कराया जाए, जिसमें वे इस पूरे खेल के सभी नियमों के बारे में कुछ हद तक तो निश्चिंत हो सकें। इसके लिए सुदृढ़ तथा विश्वसनीय विनियमन एजेंसियों की जरूरत है, जो विनियमित शुल्कों का उचित निर्धारण करें तथा निजी निवेशकों के साथ भी न्यायोचित बरताव करें।

हमें अपनी नीतियों की समीक्षा करनी होगी। इन नीतियों को अतरराष्ट्रीय स्तर के अनुकूल बनाने के लिए कई क्षेत्रो मे बदलाव करने होंगे। दूरसंचार के क्षेत्र में सरकार ने घोषणा की है कि वह भारतीय दूरसंचार विनियमन प्राधिकरण (ट्राई) को सुदृढ करने के लिए कानून में संशोधन करेगी। यह एक अहम फैसला है तथा अन्य देशों के अनुभवों के आधार पर इसे तेजी से लागू किया जाना चाहिए। हमें व्यवस्था की अन्य विनियमन एजेंसियों, जैसे—एस ई आर.सी , टी ए एम.पी. आदि पर भी ध्यान देना होगा, ताकि यह तय किया जा सके कि इन्हें भी मजबूत बनाए जाने की जरूरत है या नहीं।

4. दूसरी पीढ़ी के सुधार

दूसरी पीढ़ी के सुधारो के अतर्गत वे सुधार शामिल हैं, जिन्हे अब तक एजेंडे में शामिल नहीं किया गया है; लेकिन अगले दशक के एजेंडे में जिन्हें प्राथमिकता देने की आवश्यकता है।

राज्यों में सुधार-प्रक्रिया

केंद्रीय सरकार में सुधारों के बारे में व्यापक स्तर पर विचार-विमर्श, बहस आदि होती रही हैं, परंतु राज्यों के स्तर पर इन सुधारों को लागू करने की जरूरत पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। दरअसल, आम आदमी का वास्ता आम तौर पर जिन एजेंसियों से पड़ता है, वे प्रादेशिक सरकार के क्षेत्र में आती है। शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि-विस्तार, सिचाई, बिजली-वितरण तथा ग्रामीण, राज्य और जिला सड़कें, शहरी इलाकों में नगर निगम सेवाएँ आदि ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ सरकारों की कार्यकुशलता का सीधा प्रभाव जनता के जीवन पर पड़ता है। ये सभी क्षेत्र प्रादेशिक सरकारो के दायरे में आते हैं।

कुछ प्रादेशिक सरकारों ने विशिष्ट क्षेत्रों, जैसे—बिजली आदि में सुधार को

आवश्यकता महसूस की है। यह स्वागत योग्य कदम है; ऐसे राज्यों की संख्या काफी कम है, लेकिन उम्मीद की जानी चाहिए कि इनमें विस्तार होगा। इस क्षेत्र में सफलता का मूल मंत्र यह है कि विभिन्न क्षेत्रों को वित्तीय दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिए प्रयोगकर्ता से उचित शुल्क की वसूली की जाए। बिजली तथा अन्य सेवाओं पर भी यही बात लागू होती है।

राज्यों में विकास-संबंधी कई समस्याएँ प्रादेशिक सरकारों के राजकोषीय संकट को प्रतिध्वनित करती हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समस्या सिर्फ संसाधनों को लेकर ही नहीं है, अतिरिक्त संसाधन जुटाने से उस स्थिति में भी कोई लाभ नहीं मिलनेवाला, जबकि हमारी व्यवस्था उन अध्यापकों को वेतन भुगतान करने के लिए तैयार है, जो पढ़ाते ही नहीं हैं या स्कूलों में जाते ही नहीं।

दुर्भाग्यवश देश के कई भागों में हमारी सरकारी व्यवस्था के स्तर में गिरावट आई है। इसका कारण कुछ हद तक राजकोषीय संकट है, क्योंकि धनाभाव के चलते नैतिकता का पतन हो सकता है। अलबत्ता कई स्थानों पर सरकारी अमले के स्तर में कमी के चलते जवाबदेही तथा प्रदर्शन के न रहने की वजह से ऐसा हुआ है। यदि हमें अपने संसाधनों के माध्यम से प्रभावी विकास कार्यों को अंजाम देना है तो प्रशासनिक सुधार करने आवश्यक हैं। निचले स्तरों पर आम आदमी की भागीदारी बढ़ाने से व्यवस्था की जवाबदेही और कुशलता में सुधार आता है।

प्रादेशिक सरकारों को भी अपने नियंत्रणों तथा प्रक्रियाओं में ढिलाई करनी चाहिए। अधिकतर राज्यों में छोटा व्यापार स्थापित करने के लिए भी 30 से 40 प्रकार की स्वीकृतियाँ आवश्यक होती हैं। ये ही प्रायः भ्रष्टाचार तथा शोषण का कारण बनती हैं। राज्यों के 'इंस्पेक्टर राज' को हटाने से छोटे स्तर के व्यापार को काफी लाभ पहुँचेगा और निवेश भी बढ़ेगा।

श्रम कानून

श्रम बाजारों तथा श्रम कानूनों के क्षेत्र में सुधार की हवा अभी तक नहीं पहुँची है, परंतु अब ऐसा करना बेहद आवश्यक है। अर्थशास्त्री हमेशा यह मानते आए हैं कि भारत के श्रम कानूनों के चलते विभिन्न कंपनियों को प्रतिस्पर्धी बाजारों में लचीलापन नहीं मिल पाता। उपक्रमों को सरकार की पूर्वानुमति लिये बगैर श्रमिकों की छँटनी करने या बाजारों की बदलती परिस्थितियों के मद्देनजर किसी विशेष इकाई को बंद करने की छूट नहीं होती। श्रम कानूनों के अंतर्गत 'सेवा नियम' भी निहित होते हैं, जिन्हें आसानी से नहीं बदला जा सकता। इस प्रकार श्रमिकों की विभिन्न गतिविधियों में दोबारा तैनाती करना भी काफी कठिन हो जाता है।

इन कानूनों को तैयार करने के पीछे मूल भावना नौकरियों को सुरक्षित रखने की थी, लेकिन मौजूदा रोजगार सुरक्षित रखने के चलते ये नए रोजगारों को निरुत्साहित करते हैं। हमारी पहले की बंद अर्थव्यवस्था या सीमित घरेलू प्रतिस्पर्धा के दौर में इनसे अधिक परेशानी नहीं थी, परंतु मुक्त अर्थव्यवस्था में ऐसा नहीं है। नए प्रतिस्पर्धी माहौल मे भारतीय उद्योग को लचीलेपन की जरूरत है। वस्तुत लचीलापन न रहने से व्यापार का आधार व्यापक होना कठिन हो जाता है और साथ ही कुशलता बढ़ाने के लिए आवश्यक पुनर्गठन की प्रक्रिया में भी बाधा पहुँचती है।

अनुबंधित श्रम से संबंधित प्रावधानों को भी संशोधित करने की आवश्यकता है। इनके चलते विभिन्न संस्थान उन सेवाओ को अनुबंध के आधार पर नहीं ले पाते, जिनकी आवश्यकता परिसर के भीतर होती है, जैसे—बागबानी, सफाई, सुरक्षा, कैफेटेरिया आदि। इस क्षेत्र में अधिक लचीलापन आने से छोटे स्तर की व्यापारिक गतिविधियाँ उन मौजूदा प्रतिष्ठानों में पनपेंगी, जो अपनी श्रम-शक्ति का आकार बढाने के अनिच्छुक हैं। इस प्रकार रोजगार के अधिक अवसर जुटाने तथा प्रतिष्ठानों के विकास में भी मदद मिलेगी।

विधि व्यवस्था की कार्यप्रणाली

यदि हम दुनिया के अन्य देशों के साथ एकात्मक होने की इच्छा रखते है और भारी मात्रा में विदेशी निवेश को आकर्षित करना चाहते हैं तो हमें एक ऐसे कानूनी तंत्र की आवश्यकता है, जिसके अंतर्गत अनुबंध संबंधी अधिकारों और दायित्वों को प्रभावी तरीके से लागू किया जा सके। यह तंत्र ऐसा हो, जिसमें कानून स्पष्ट एवं पारदर्शी हो, प्रक्रियाओ की रफ्तार तेज हो और न्यायिक व्यवस्था राजनीतिक दबावों से मुक्त होकर इस प्रकार काम कर सके कि उसके फैसलों को न्यायोचित माना जाए। इस क्षेत्र की कुछ आम समस्याएँ इस प्रकार हैं—

1 हमारे तंत्र में ऐसे कई पुराने कानून अभी तक बने हुए हैं, जिन्हें समाप्त करने की जरूरत है।
2 जो कानून पुराने नहीं पड़े हैं, उनका प्रारूप प्राय: इस प्रकार का होता है कि उन कानूनों की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है। स्पष्टता के इस अभाव के चलते कई अनावश्यक कानूनों की जरूरत पड़ती है।
3 हमारी कानूनी प्रक्रियाएँ प्राय. काफी समय खाऊ होती हैं। ऐसा लगता है कि ये प्रक्रियाएँ उन लोगों की मदद के लिए बनाई गई हैं, जो स्थगन चाहते हैं। यदि न्याय में देरी होना और न्याय न मिलना बराबर है तो यह कहना होगा कि हमारी व्यवस्था पर्याप्त न्याय सुनिश्चित नहीं करती।

4 सरकार भी प्रायः कानून व्यवस्था का [illegible]। अपने खिलाफ सुनाए गए लगभग सभी फैसलों, यहां तक कि स्वयं अपनी न्यायिक एजेंसियों के फैसलों पर भी उच्च अदालत का दरवाजा खटखटाती है। इस प्रकार की अपीलों के पीछे मूल धारणा यह रहती है कि ऐसा न करने से संबंधित प्रशासनिक प्राधिकरण की सत्यनिष्ठा पर संदेह किया जा सकता है।

इन सबका नतीजा यह हुआ है कि हमारी अदालतों में मामलों की भरमार हो गई है और फैसला आने में काफी लंबा समय लगता है। यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन समस्याओं का नुकसान आम नागरिकों और छोटे व्यापारों को होता है। कई वकीलों की सेवाओं का लाभ लेनेवाले बड़े प्रतिष्ठानों को प्रायः इनसे कम नुकसान होता है। इस क्षेत्र में व्यापक स्तर पर बदलाव लाने की जरूरत है।

हालाँकि सुधारों का एजेंडा काफी व्यापक है, लेकिन यदि हम इनमें महत्त्वपूर्ण प्रगति कर सकें तो अगले दशक में 7 या 8 प्रतिशत का विकास का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार का विकास वितरण की दृष्टि से संतुलित होने के साथ-साथ गरीबी को भी कम करेगा।

[तेरहवाँ जवाहरलाल नेहरू स्मारक व्याख्यान ([illegible], नवंबर 1999)]

□

उच्च आर्थिक विकास के लक्ष्य : राजकोषीय अवरोधक

—राकेश मोहन

लंबी अवधि के आर्थिक विकास की आवश्यकता

लगभग 1,000 वर्षों के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दमन के बाद सन् 1947 में आजादी प्राप्त करने (देखें तालिका-1) के बाद से अब तक हमने काफी लंबा सफर तय कर लिया है। उस समय देश अंधकार युग में जी रहा था। आज देश मे बिजली उत्पादन की क्षमता 85,000 मेगावाट है, जबकि सन् 1947 में यह महज 1,362 मेगावाट थी। जीवन-संभाव्यता मात्र 32 वर्ष और साक्षरता 17 प्रतिशत थी; परंतु सन् 1991 मे ये ही आँकड़े क्रमश: 60 वर्ष और 52 प्रतिशत दर्ज किए गए। स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद अगले तीन दशकों तक देश में आधिकारिक तौर पर 50 प्रतिशत गरीबी थी, जो अब घटकर 35 प्रतिशत है। साठ के दशक में देश मे खाद्यान्न का गंभीर संकट उत्पन्न हुआ था, लेकिन उसके बाद किए गए उपायों से देश 20 वर्षों से भी अधिक अवधि से खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर हो गया है।

हालाँकि भारत की आजादी के बाद की प्रगति को देखकर हममें से अधिकतर निराश ही हैं, परंतु हमें अपनी सकारात्मक उपलब्धियों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। लगभग एक शताब्दी तक कायम रहे शून्य आर्थिक विकास के बावजूद स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् पहले तीन दशकों ने ही भविष्य के लिए निरतर आर्थिक विकास की आधारशिला रख दी थी; लेकिन प्रति व्यक्ति आय में 1.5 प्रतिशत से भी कम वार्षिक विकास-दर, देश भर में छाई गरीबी से निपटने के लिए अपर्याप्त थी। अलबत्ता, आर्थिक विकास के लिए बुनियाद तैयार की जा चुकी थी और सन् 1980 तथा 1990 के दशकों मे यह विकास तेजी से होता दिखाई भी दिया। अस्सी के दशक मे प्रति व्यक्ति आय वार्षिक विकास-दर 3.5 प्रतिशत तक पहुँची, जिसके चलते गरीबी के अनुपात मे उल्लेखनीय गिरावट दर्ज की गई।

बढाने से ही इस मुकाम तक पहुँचना सभव हो सका है अगले 10 20 वर्षों के दौरान दश के आर्थिक विकास मे जबरदस्त तेजी लाकर ही लबी अवधि तक कायम रहनेवाले आर्थिक विकास के लक्ष्य को हासिल किया जा सकता है।

तालिका-2 (क)

विश्व जी.डी.पी. के अंश, 1700-1995

प्रतिशत

	1700	1820	1890	1952	1978	1995
चीन	23 1	32 4	13.2	5.2	5 0	10 9
भारत	22 6	15 7	11.0	3.8	3 4	4 6
जापान	4 5	3 0	2.5	3 4	7 7	8 4
यूरोप	23 3	26 6	40 3	29 7	27 9	23 8
अमेरिका	0 0	1 8	13 8	28 4	21 8	20 9
यू एस एस आर /रूस	3 2	4.8	6 3	8.7	9.2	2.2

तालिका-2 (ख)

विश्व जी.डी.पी. की विकास-दरें (1700-1995)

(वार्षिक औसत चक्रवृद्धि विकास-दरें)

	1700-1820	1820-1952	1952-78	1978-95
चीन	0.85	0.22	4 40	7.49
भारत	0.26	0 54	4 02	4 63
जापान	0.21	1 74	7 85	3.21
यूरोप	0.68	1 71	4 27	1.74
अमेरिका	2.57	3.78	3 46	2.47
यू एस.एस आर /रूस	0.86	2.08	4.75	-5 56
विश्व	0.57	1 62	4.52	2.70

स्रोत एगस मेडीसन। लबी अवधि मे चीन का आर्थिक प्रदर्शन। पेरिस ओ ई सी डी. (1998)

पिछले तीन दशकों में जिन देशों ने प्रति व्यक्ति आय में 6 प्रतिशत से अधिक की वार्षिक विकास-दर दर्ज की है, वे अपनी सकल निवेश-दरों में उल्लेखनीय वृद्धि की वजह से ऐसा कर पाए हैं (देखें तालिका-3)। अगले 10 वर्षों में भारत को अपनी प्रति व्यक्ति आय में 6 प्रतिशत से अधिक विकास के लिए सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी एन पी.) विकास-दर में प्रतिवर्ष 7 5 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि दर्ज

कराना होगा। यदि भारत इस लक्ष्य को हासिल करने में सफल हो जाता है तो भी सन 2010 में भी देश का प्रति व्यक्ति आय सन 1980 में [illegible] थाइलैंड [illegible] दशा में रह रहे प्रति व्यक्ति आय के स्तर से अधिक नहीं पहुंच सकता। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अपनी आर्थिक विकास-दर में महत्वपूर्ण बढ़ोतरी करने के बावजूद हम अधिकतर पूर्वी एशियाई देशों से पीछे ही रहेंगे।

तालिका-3

मौजूदा मूल्यों में सकल निवेश-दरें : चुनिंदा देश

(1952-94)

देश	सकल निवेश/सकल घरेलू उत्पाद (जी डी.पी.) (प्रतिशत)		
	1952-57	1958-77	1978-94
भारत	12.0	16.4	23.3[1]
चीन	23.2	28.0	34.2
जापान	26.9	31.3	30.3
कोरिया	–	23.3[2]	32.5
ताइवान	15.2	24.4	25.9
फ्रांस	18.8	25.2	21.0
जर्मनी	23.4	25.2	20.6
ब्रिटेन	15.3	18.7	17.4
अमेरिका	19.0	18.5	18.7

स्रोत एंगस मेडीसन। लंबी अवधि में चीन का आर्थिक प्रदर्शन। पेरिस ओ ई सी डी 1998।

ऐसे अधिकतर देश, जो अपनी विकास-दरों को 6 प्रतिशत तक करने में सफल रहे हैं, ने अपने सकल घरेलू पूँजी-निर्माण में जी डी.पी. के 30 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि कर ऐसा किया है। भारत का मौजूदा निवेश-अनुपात 25 से 27 प्रतिशत के आस-पास है। अगले कुछ ही वर्षों में इसे 30 प्रतिशत से अधिक करने की आवश्यकता है। उच्च आर्थिक विकास के लिए ढाँचागत तंत्र में निवेश प्रमुख भूमिका निभाता है। भारतीय ढाँचागत रिपोर्ट के अनुसार 7 प्रतिशत से अधिक जी.डी.पी. के लिए नब्बे के दशक के मध्य में इसके 5.5 प्रतिशत के आँकड़े को

---

1. 1978-91

2. 1960-77

सन् 2005 06 तक 8 प्रतिशत करने की जरूरत है इसके लिए ढाँचागत तंत्र में निवेश का बढाना होगा रिपोर्ट में कहा गया है कि यह लक्ष्य उस स्थिति म ही प्राप्त हो सकता है, जब सार्वजनिक क्षेत्र ढॉचागत विकास के लिए जी डी पी का 4 5 से 5 प्रतिशत का अपना मौजूदा निवेश जारी रखे और साथ ही निजी क्षेत्र भी इस निवेश मे बढ़ोतरी करे। निजी क्षेत्र को सन् 2005 तक अपने निवेश में जी डी पी के 2.5 से 3 प्रतिशत के बराबर वृद्धि करनी होगी।

इस मुकाम तक पहुँचने की राह मे मुख्य अडचन राज्यों तथा केंद्र की बिगडती राजकोषीय स्थिति है। इसी के चलते सरकार की निवेश-क्षमता में अस्सी के दशक से ही लगातार गिरावट हो रही है (देखें तालिका-4)। अलबत्ता, सन् 1991 मे लागू सुधारों के बाद से निजी कॉरपोरेट क्षेत्र द्वारा निवेश-स्तर में वृद्धि काफी उत्साहजनक है, लेकिन सार्वजनिक निवेश स्तर मे गिरावट से इस क्षेत्र पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है।

तालिका-4

सार्वजनिक निवेश में गिरावट

सकल पूँजी-निर्माण (जी.डी.पी. का प्रतिशत)

अवधि	कुल	निजी कॉरपोरेट क्षेत्र	सार्वजनिक क्षेत्र
1980-85	21 9	4 3	10 2
1985-90	23 7	4 5	10 5
1990-95	23.7	6 0	9 1
1995-98	24 0	8 3	7 0

स्रोत भारत सरकार आर्थिक सर्वेक्षण (विभिन्न मुद्दे)।

केंद्रीय सरकार की वित्तीय स्थिति (1980-2000)

केंद्रीय सरकार की मौजूदा राजकोषीय स्थिति को समझने के लिए कम-से-कम पिछले 20 वर्षों के दौरान सरकार के व्यय तथा राजस्व को देखना होगा।

सन् 1980-85 में केंद्रीय सरकार का कुल व्यय जी.डी.पी का औसतन 16 8 प्रतिशत रहा और सन् 1985-90 के दौरान बढ़कर 20 5 प्रतिशत तथा सन् 1990 के दशक के अंतिम वर्षों में घटकर 16 से 17.5 प्रतिशत रह गया। इसके समानातर अस्सी के दशक के शुरू मे गैर-योजनागत खर्च 10 प्रतिशत से बढ़कर जी डी पी. का 13 प्रतिशत हो गया। यह बढ़ोतरी गैर-योजनागत खर्च की लगभग

सभी श्रेणियों में देखी गई, जैसे—ब्याज-भुगतान, रक्षा व्यय, रियायतें, पेंशन, राज्यों के दिए ऋण आदि। इस अवधि में अन्य गैर-योजनागत खर्च, जिसमें मुख्य रूप से सरकारी कर्मचारियों को दिए जानेवाला वेतन संबंधी भुगतान शामिल है, जी.डी.पी. के लगभग 2.25 प्रतिशत पर स्थिर बना रहा। अस्सी के दशक में योजनागत खर्च बढ़े और जी.डी.पी. के 6.5 प्रतिशत से 7 प्रतिशत तक बने रहे। दूसरी ओर केंद्रीय सरकार का पूँजीगत व्यय जी.डी.पी. का 6 से 7 प्रतिशत रहा। अब केंद्रीय सरकार के योजनागत व्यय तथा पूँजीगत व्यय घटकर जी.डी.पी. के 4 प्रतिशत रह गए हैं।

यानी अस्सी के दशक में विकास में तेजी से हुए सुधार (देखें तालिका 6) का कुछ हद तक कारण उच्च सरकारी व्यय (योजनागत एवं गैर-योजनागत) और राजस्व तथा पूँजी रहा। यह विकास-प्रक्रिया टिकाऊ नहीं थी। सन् 1991 में भुगतान तथा राजकोषीय संकट के दोहरे संतुलन के जरिये यह स्पष्ट भी हो गया। ब्याज के रूप में होनेवाले भुगतान को अब केंद्रीय सरकार के व्यय का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। पाँचवें वेतन आयोग को इस पूरे परिदृश्य में खलनायक के रूप में देखा जा रहा है और मौजूदा राजकोषीय समस्याओं का कारण भी उसे माना गया है; जबकि उपलब्ध आँकड़ों से स्पष्ट है कि केंद्रीय सरकार के स्तर पर यह सच नहीं है। रक्षा तथा पुलिस विभाग को छोड़कर कुल सरकारी वेतन का आँकड़ा अब अस्सी के दशक की तुलना में काफी कम हो गया है। दूसरे शब्दों में, सरकारी वेतन के रूप में गैर-योजनागत खर्च में इस अवधि में उतनी वृद्धि नहीं हुई जितनी जी.डी.पी. में देखी गई है। ब्याज-भुगतान अब सेना और पुलिस को छोड़कर शेष गैर-योजनागत सरकारी खर्चों का तीन गुने से भी अधिक हो गया है। इस राजकोषीय असंतुलन में सुधार की संभावना केंद्रीय सरकार की बढ़ती ऋण देनदारियों के क्षेत्र में मौजूद है।

तालिका-6

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास

वर्ष	सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.पी.)	प्रति व्यक्ति
1950-1980	3.5	1.3
1980-1990	5.5	3.5
1990-2000	6.0	4.3
2000-2010*	7.5	6.0

* अनुमानित।

इन आँकडों के अध्ययन से एक बात स्पष्ट है कि अस्सी के दशक में सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश तथा अन्य सरकारी व्यय मे काफी बढोतरी दर्ज की गई उस दशक के अंतिम वर्षो में रक्षा-खर्च भी इस दशक के आरभिक वर्षो में दर्ज जी डी पी के 2.8 प्रतिशत के आँकड़े से बढ़कर 3.4 प्रतिशत हो गया। तत्पश्चात् लगातार गिरावट के बाद 2.5 प्रतिशत के स्तर पर निरतर कायम है।

यदि सरकार को उधार ली गई रकम के निवेश से पर्याप्त धनराशि प्राप्त होती रहे तो सरकार पर ऋण-देनदारियों का बोझ कुल व्यय के अनुपात मे नही बढेगा। चूँकि सरकार जनता से संसाधन उधार लेकर नई परिसंपत्तियों में निवेश करती है, इसलिए सार्वजनिक परिसपत्तियों मे वृद्धि से कर-राजस्व में भी बढोतरी होनी चाहिए। सार्वजनिक ढाँचागत सुविधाओं में सुधार से कार्यकुशलता में भी सुधार के साथ-साथ नए निजी निवेश और कर-राजस्व को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इसी प्रकार सार्वजनिक उद्यमों द्वारा ढाँचागत तंत्र में निवेश से प्राप्त होनेवाले लाभ मे वृद्धि से गैर-कर राजस्व बढ़ना चाहिए। अलबत्ता, उधार लिये गए ससाधनों को यदि ऐसी गतिविधियों में निवेशित किया जाता है, जहॉ से पर्याप्त वापसी नही होती तो कुल राजस्व के अनुपात में ऋण संबधी भुगतान लगातार बढ़ता रहेगा। भारत में पिछले 20 वर्षो के दौरान यही हुआ है। पेट्रोलियम कंपनियों को छोड़कर केंद्रीय सार्वजनिक उपक्रमो के निवेश पर धन वापसी शून्य के लगभग रही है। मूल्य-निर्धारण की गलत नीतियों, सार्वजनिक उपक्रमों की अकुशल कार्यप्रणाली और अन्य मुश्किलों के चलते यह स्थिति उत्पन्न हुई है। सन् 1980 के दशक से ही सरकार राजस्व में घाटे की स्थिति से जूझ रही है। फलस्वरूप तमाम सरकारी तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमो के निवेश के लिए केंद्रीय सरकार द्वारा ऋण से जुटाए गए ससाधनों का इस्तेमाल किया जा रहा है। इन निवेशो से कुछ भी प्राप्त न होने की स्थिति में ऋण देनदारियों का बोझ निश्चित तौर पर बढ़ेगा।

केंद्रीय सरकार की पिछले 20 वर्षो की राजस्व-प्राप्ति पर नजर डालना जरूरी है, ताकि यह स्पष्ट हो सके कि ऋण सबंधी देनदारियाँ लगातार किस प्रकार बढ़ रही है। अस्सी के दशक के अंतिम वर्षो में व्यय में वृद्धि के समानांतर इस अवधि में राजस्व मे भी बढ़ोतरी के प्रयास किए गए। राजस्व में बढ़ोतरी मुख्यत· सीमा शुल्क के रूप में प्राप्त राशि से हुई, जो अस्सी के दशक के आरंभ में जी डी पी के 2.8 प्रतिशत से बढ़कर इस दशक के अंत मे 3.9 प्रतिशत तक जा पहुँचा। ऐसा आयात में वृद्धि (जिसके कारण भुगतान-संकट उत्पन्न हुआ) तथा सीमा शुल्क के स्तरों में बढ़ोतरी के कारण हुआ। सीमा शुल्क मे हुई इस वृद्धि से

संसाधनों के आबंटन में कुशलता का अभाव देखा गया और निर्यात क्षेत्र में भी प्रतिस्पर्धात्मकता में कमी आई। अस्सी के दशक के अंत में 110 प्रतिशत के औसत स्तर पर भारत में सीमा शुल्क की दर शायद दुनिया भर में सबसे अधिक रही। सन् 1991 में सुधारों के बाद से प्रत्यक्ष करों में बराबर बढ़ोतरी हो रही है और अस्सी के दशक में जहाँ ये जी डी पी. का 2 प्रतिशत रहे, वहीं अब बढ़कर 3 प्रतिशत तक आ पहुँचे है। दरों में कमी के बावजूद यह वृद्धि कार्पोरेट आयकर तथा निजी आयकर प्राप्तियों में देखी गई (देखें तालिका 7)। कर राजस्व में कमी अप्रत्यक्ष करों जैसे—सीमा शुल्क तथा उत्पाद शुल्क में कमी के कारण आई। सीमा शुल्क दरों मे भारी कटौती के परिणामस्वरूप इसमें गिरावट स्वाभाविक थी, परंतु उत्पाद शुल्क की वसूली में आई कमी को समझना काफी कठिन है।

तालिका-7 (क)
केंद्रीय सरकार के कुल राजस्व का स्वरूप
(जी.डी.पी. के प्रतिशत के रूप में)

	1980-85	1985-90	1990-95	1995-99	1997 98	1998 99	1999-00
राजस्व प्राप्ति (कुल)	9.43	11 11	10 07	9 72	9 46	9 70	9 59
1. सकल कर-राजस्व	9 93	11 20	10 26	9.75	9 84	9 15	9.28
क. प्रत्यक्ष कर	2.06	2.08	2 36	2 84	2 62	2 98	3.03
कॉरपोरेट	1 16	1 07	1.24	1.50	1 41	1 66	1 65
आय	0.90	1 01	1 12	1 34	1 21	1 32	1 38
ख परोक्ष कर	7.50	8 82	7 54	6.45	6.23	5 90	5 98
सीमा शुल्क	2 76	3 92	3 28	3 00	2 84	2 62	2.71
उत्पाद शुल्क	4.74	4.89	4 27	3.44	3.39	3 27	3 27
ग. अन्य कर राजस्व	0.37	0.30	0.35	0 47	0 59	0 27	0 27
@ कर-राजस्व मे राज्यों का अंश	2.64	2.84	2 75	2.71	3.08	2 41	2.48
2. गैर कर-राजस्व	2 13	2 77	2.57	2 68	2.70	2.96	2 80

स्रोत : भारत सरकार, विभिन्न वर्षों के बजट दस्तावेज।

नोट : राजस्व प्राप्ति (कुल) = सकल कर-राजस्व (राज्यों का अंश) + गैर कर राजस्व।

तालिका 7 (ख)
केंद्रीय सरकार के कुल राजस्व का संरचनात्मक स्वरूप (1980-2000) (कुल राजस्व का प्रतिशत)

	1980-85	1985-90	1990-95	1995-99	1997-98	1998-99	1999-00
राजस्व प्राप्ति (कर+गैर कर राजस्व) कुल	100 00	100 00	100 00	100 00	100 00	100 00	100 00
1 सकल कर-राजस्व	105 46	100 80	101.84	100 31	103 97	94 31	96 72
क. प्रत्यक्ष कर	21.91	18.76	23.60	29.18	27 72	30.75	31.56
कॉरपोरेट	12 27	9.64	12 42	15 44	14 95	17 16	17 18
आय	9 64	9.12	11.18	13 74	12 77	13 59	14.38
ख. परोक्ष कर	79 64	79.35	74.79	66.29	65.84	60.79	62 35
सीमा शुल्क	29.27	35.28	32.43	30 87	30 02	27 05	28 23
उत्पाद शुल्क	50 37	44.07	42.36	35.42	35 82	33 74	34 12
ग. अन्य कर-राजस्व	3.90	2.69	3.44	4.84	10 42	2 77	2 81
@ कर-राजस्व मे राज्यों का अश	28.07	25.61	27.39	27.93	32 52	24 84	25 86
2 गैर कर-राजस्व	22.55	24.94	25.63	27.62	28.55	30.53	29.14

स्रोत भारत सरकार, विभिन्न वर्षो के बजट दस्तावेज।

नोट राजस्व प्राप्ति (कुल) = सकल कर-राजस्व (राज्यो का अश) + गैर कर-राजस्व।

सिद्धांत रूप में तो औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि से उत्पाद शुल्क भी बढ़ना चाहिए, परंतु दो कारणों से आशातीत विकास नहीं हो सका। सन् 1993-96 की अवधि को छोडकर शेष वर्षो में औद्योगिक विकास-दर उतनी अधिक नहीं रही, जितनी आर्थिक सुधारों की वजह से होने की संभावना थी। दूसरे, समूचे औद्योगिक क्षेत्र में एम ओ डी.वी ए टी (MODVAT) के प्रगामी विस्तार के कारण भी उत्पाद शुल्क प्राप्ति में कमी हुई। अस्सी के दशक से ही गैर कर-राजस्व का ऑकड़ा 2 6 प्रतिशत से 3 प्रतिशत के बीच कायम है। अधिक निवेश के बावजूद वसूली अधिक नहीं हो पाई है।

पिछले 20 वर्षों में केवल अस्सी के दशक के बाद के 5 वर्षों को छोड़कर सकल कर-राजस्व 10 प्रतिशत के स्तर पर स्थिर है। इसी आरंभ में कुल खर्च काफी ऊँचे स्तर पर जा पहुँचा है।

तालिका-8

केंद्रीय सरकार की पूँजी प्राप्तियो का स्वरूप

	1980-85	1985-90	1990-95	1995-99	1997-98	1998-99	1999-00
जी.डी.पी. के प्रतिशत के तौर पर							
1. आतरिक ऋण (कुल)	1 93	1.85	1 79	2.70	2 30	3 99	3 72
2 बाहरी सहायता	0 86	0.66	0 65	0.10	0.08	0 06	0.05
3 ऋण वसूली	1.32	1 15	0.87	0 62	0 59	0 71	0 61
4. लघु बचत (कुल)	0 76	1.47	1.29	1.46	1.73	1 78	0 44
5. राज्य भविष्य निधि (कुल)	0 19	0 24	0 22	0 26	0.31	0.33	0 33
6. विशेष जमा (कुल)	0.49	1 27	1.07	0.46	0 32	0 57	0 58
7 विनिवेश	0.00	0 00	0 26	0 17	0 06	0 55	0 55
8. अन्य पूँजी प्राप्ति	0.66	0 66	0.40	0 34	1 55	0.55	0.16
कुल पूँजी प्राप्ति	6 21	7 30	6 54	6 10	6.94	7 44	6 14
प्रतिशत अंश							
1. आंतरिक ऋण (कुल)	31.43	25 37	26.39	43 99	33.11	53 64	60 67
2. बाहरी सहायता	14.38	9.03	10 26	1.82	1 11	0.75	0 76
3 ऋण वसूली	21 46	15.79	13.65	10.35	8.47	9.51	10 01
4. लघु बचत (कुल)	11.48	20 38	19.39	23.90	24.95	23 96	7.22
5. राज्य भविष्य निधि (कुल)	3.14	3.23	3 41	4.14	4 46	4 42	5 42
6. विशेष जमा (कुल)	7 96	17.54	16.50	7 82	4 56	7.63	9 44
7. विनिवेश	00.00	0 00	4.12	2 40	0.93	7.44	9 03
8. अन्य पूँजी प्राप्ति	10 14	8.65	6 28	5 59	22 40	7.36	2.54
कुल पूँजी प्राप्ति	100.00	100 00	100.00	100.00	100 00	100.00	100 00

स्रोत: भारत सरकार, विभिन्न वर्षों के बजट दस्तावेज।

राजस्व में कमी की भरपाई केंद्रीय सरकार ने निरंतर उच्च पूँजी प्राप्तियों जो पिछले 20 वर्षों के दौरान जी.डी.पी. का 6 से 7.5 प्रतिशत तक रही, के जरिये की है। बाहरी सहायता अब सरकार के वित्त-पोषण का महत्त्वपूर्ण स्रोत नहीं रह गई है। लघु बचत प्राप्तियाँ धन जुटाने का काफी खर्चीला तरीका है, क्योंकि इनमें बचतकर्ता को काफी अधिक कर राहत प्राप्त होती है। लघु बचत प्राप्तियों का 75 प्रतिशत अंश प्रादेशिक सरकारों के राजस्व घाटे के वित्त-पोषण के लिए उपलब्ध कराया जाता है। (यही कारण है कि सन 1999-2000 में प्रादेशिक सरकारों को लघु बचतों से संबंधित प्राप्तियाँ तथा अग्रिम राशि उपलब्ध कराने की व्यवस्था बंद कर दी गई है।)

सन 1990 के दशक में व्यवस्था में आए दो बदलावों के कारण केंद्रीय सरकार के लिए ऋण लेना और भी महँगा साबित हुआ। पहले, राजस्व घाटे के एक बड़े भाग की भरपाई मौद्रिकीकरण के जरिये हो जाती थी (देखें तालिका-9), परंतु अब ऐसा नहीं है। यही कारण है कि राजस्व घाटे की ब्याज संबंधी कीमतें भी बढ़ गई हैं। दूसरे, ब्याज दरों के विनियमीकरण के बाद सरकार द्वारा लिये गए ऋण पर देय ब्याज दरें बाजार दरों के बराबर हो गई हैं, जबकि पहले ऐसा नहीं था, क्योंकि तब बैंक सरकार को बाजार दरों से कम दर पर ऋण मुहैया कराते थे।

पिछले 20 वर्षों से जारी उच्च राजकोषीय घाटे के परिणाम तालिका-10 में देखे जा सकते हैं। केंद्रीय सरकार की ऋण संबंधी देनदारियाँ सन् 1980-85 में कर राजस्व का लगभग 30 प्रतिशत थीं, जबकि अब बढ़कर 70 प्रतिशत तक हो गई हैं। वह दिन अब दूर नहीं, जब ऋण देनदारियाँ कर-राजस्व के बराबर हो जाएँगी। ऋणों से जुड़ी देनदारियों में वृद्धि के कारण राजस्व-घाटा सन् 1980-85 में राजकोषीय घाटे के अनुपात में 17 प्रतिशत रहने के बाद अब 50 प्रतिशत हो गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मौजूदा ऋणों का आधा भाग हमारे मौजूदा खर्चों पर ही व्यय हो रहा है। इस प्रकार मौजूदा व्यय से कुछ हाथ नहीं लगनेवाला और भविष्य में भी ऋण संबंधी देनदारियों का बढ़ना तब तक जारी रहेगा, जब तक इस स्थिति में सुधार के उपाय नहीं किए जाएँगे।

केंद्रीय सरकार पिछले 20 वर्षों से निरंतर राजकोषीय घाटेवाली राजकोषीय व्यवस्था पर अमल कर रही है। अस्सी के दशक के उत्तरार्द्ध के दौरान यह घाटा अन्य वर्षों की तुलना में काफी बढ़ गया। सन् 1990-91 में देश के सामने आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ। राजकोषीय घाटे के स्तर में निरंतर वृद्धि के परिणाम कई रूपों में सामने आते हैं। शून्य अथवा काफी कम वापसीवाली वित्तीय गतिविधियों को

ऋण के माध्यम से वित्त-पोषित करने से ब्याज-भुगतान का आकार काफी बढ जाता है। इस गैर-उत्पादक चालू खर्च भी बढते हैं, जो राजस्व घाटे को अधिकाधिक ऊँचे स्तर तक धकेलते है, यानी और अधिक ऋण लेने की जरूरत पड़ती है। दूसरे, राजस्व तथा व्यय का अधिकांश जब ऋण सबधी अदायगी में खर्च होने लगता है तो सरकार की अन्य गतिविधियाँ प्रभावित होती हैं। इस प्रक्रिया में सामाजिक तथा ढाँचागत सुविधाओं के क्षेत्र में सरकारी पूँजीगत व्यय सर्वाधिक प्रभावित होता है।

तालिका-9

केंद्रीय सरकार के सकल राजकोषीय घाटे का संरचनात्मक स्वरूप तथा वित्त पोषण (जी.डी.पी. के प्रतिशत में)

	1980-81	1985-86	1990-95	1995-97	1995-96	1996-97	1997-98
1 कुल खर्च (क+ख)	15 20	19 03	17 61	16 27	15 78	15 57	16 39
क. राजस्व खर्च	10 59	12 94	13.27	12 99	12 93	12.87	12 74
ख. पूँजी खर्च	4 60	6 09	4 33	3 28	2 85	2.70	3 65
2. कुल प्राप्ति (क+ख)	9 10	10.69	10 93	10 45	10 39	10.35	10 11
क. राजस्व प्राप्ति	9 10	10.69	10 07	9 94	10 27	10.31	9.46
ख. गैर ऋण पूँजी प्राप्ति	0 00	0.00	0.86	0 52	0 12	0 04	0 65
3. सकल राजकोषीय घाटा वित्त-पोषित	6 10	8.33	6 68	5.82	5.38	5.23	6 28
क. घरेलू वित्त-पोषण	5 16	7.78	5.95	5.51	4 51	4.99	6 21
अ. बाजार ऋण	1 97	1.86	1 77	2.70	2.96	1.57	2 30
ब. अन्य देनदारी	1.37	3.89	2.94	2 54	1 52	2.39	3 91
(I) लघु बचत	0 82	1 64	1.20	1 34	0 90	0.95	1 73
(II) राज्य भविष्य निधि	0 16	0.16	0 22	0 26	0 20	0.18	0 34
स. पारंपरिक घाटा	1 82	2.03	1.23	0.27	0 03	1 03	0 00
ख बाहरी वित्त-पोषण	0 94	0 55	0 74	0.31	0.88	0.23	0 08
पारंपरिक घाटा/घरेलू वित्त-पोषण (प्रतिशत)	35 29	26.04	20 85	10.66	0.63	20.68	0 00

स्रोत · भारत सरकार, विभिन्न वर्षों के बजट दस्तावेज।

भारतीय रिजर्व बैंक मुद्रा एव वित्तीय, विभिन्न वर्ष।

तालिका 10

केंद्रीय सरकार की बढ़ती ऋण सेवा का बोझ (1980–2000)

	1980-85	1985-90	1990-95	1995-99	1997-98	1998-99	1999-00
के तौर पर							
कर-राजस्व के प्रतिशत	30.1	40 5	58 9	65.9	68 6	70 5	71 7
राजस्व प्राप्ति के प्रतिशत	23.5	30 4	43.7	47.6	49 0	49 0	50 8
कुल राजस्व के प्रतिशत	14.3	18.4	26.4	29.3	28 3	27 7	31 0
कुल खर्च के प्रतिशत	13.3	16.5	24 6	28.3	28.3	27 4	31 0
जी डी.पी. के प्रतिशत	2.2	3.4	4 4	4.6	4 6	4 8	4 9
राजस्व घाटा/ राजकोषीय घाटा प्रतिशत	17.0	32 0	48.0	50.0	-	-	-

स्रोत भारत सरकार, विभिन्न वर्षों के बजट दस्तावेज।

सार्वजनिक ऋणों के लगातार बढ़ते स्तर का प्रभाव शेष अर्थव्यवस्था पर भी पड़ता है। सरकार के घाटो का वित्त-पोषण करने की मजबूरी के कारण व्यावसायिक बैंकों की जमा राशियो पर चालू आरक्षित अनुपात (सी आर आर) तथा वैधानिक तरलता अनुपात (एस.एल आर) का स्तर भी भारतीय रिजर्व बैंक को ऊँचा बनाए रखना पड़ता है। इस प्रकार बैंकों को अपनी व्यावसायिक गतिविधियों मे परिवर्तन करना पड़ता है, जिससे शेष अर्थव्यवस्था को अधिक ब्याज-दरें झेलनी पडती हैं। इसके अलावा सरकार के सपूर्ण वित्तीय क्षेत्र, जैसे—लघु बचतों, बीमा आदि से संसाधन जुटाने की कवायद के कारण राजकोषीय घाटे के उच्च स्तर से वित्तीय क्षेत्र में लागू सुधारो की राह मे भी अड़चन आती है। इस परिदृश्य में तो 7 प्रतिशत से अधिक की विकास-दर की सभावना ही नही है। यह विकास-दर जी.डी.पी के 30 प्रतिशत के बराबर निवेश स्तर प्राप्त करने पर ही संभव है। इसके लिए सार्वजनिक बचत तथा निवेश को और अधिक बढाने की जरूरत है।

प्रादेशिक सरकारों की बिगड़ती वित्तीय स्थिति

प्रादेशिक सरकारों के बिगड़ते आर्थिक हालात का जायजा लेने से पहले उनके दायित्वों को जानना जरूरी है। सामाजिक सेवाओं के प्रावधान से जुडे

अधिकाश सार्वजनिक खर्च की जिम्मदारा राज्यो की ही हाता है . प्रादशिक सरकार दूरसचार, नागरिक-उड्डयन, रेलवे तथा प्रमुख बदरगाहों को छोड़कर अधिकाश ढॉचागत सेवाओं को जुटाती है। कानून-व्यवस्था की जिम्मेदारी भी उनकी होती है। इस लिहाज से राज्यों द्वारा निवेश करने की क्षमता में कमी से मानव-विकास और अतत. आंतरिक सुरक्षा के लिए खतरा खड़ा हो सकता है। इसके अलावा आर्थिक विकास पर भी प्रतिकूल प्रभाव पडता है।

केंद्र की ही तर्ज पर राज्यों के कुल खर्चो मे भी सन् 1980 के दशक मे वृद्धि हुई। 1980-85 मे इनका स्तर जी डी पी का 16 प्रतिशत रहने के बाद सन् 1985-90 मे 17 3 प्रतिशत तक हो गया (देखें तालिका-11)। अलबत्ता अगले दशक मे इसमे गिरावट आई और इस दशक के अंतिम वर्षो मे यह ऑकड़ा 16 5 प्रतिशत हो गया। केंद्रीय सरकार की ही तरह राज्यो का भी पूँजीगत खर्च अस्सी के दशक मे जी डी.पी का 5 प्रतिशत रहा और अब घटकर लगभग 3 प्रतिशत हो गया है। जहॉ एक ओर अस्सी के दशक के आरंभिक वर्षो मे राजस्व और पूँजीगत खर्च का अनुपात 70 . 30 रहा, वहीं अब यह 83 17 हो गया है। राज्यों के पूँजीगत खर्च मे अस्सी के दशक के अंतिम वर्षो मे भी गिरावट देखी गई। इन सरकारो की भी मुख्य समस्या बढ़ती ऋण-अदायगी को लेकर थी, जो अस्सी के दशक के शुरुआती वर्षो में जी.डी.पी का 0 9 प्रतिशत रही और अब 2 3 प्रतिशत हो गई है। इसी प्रकार अन्य निर्धारित व्यय, जेसे—पेंशन आदि भी बढ रहे हे। इन सबका नतीजा यह निकला है कि कुल खर्चो मे गिरावट और गैर विकासात्मक खर्चो मे वृद्धि के कारण प्रादेशिक सरकारों की उत्पादक गतिविधियो मे निवेश का क्षमता प्रभावित हुई है।

गौरतलब है कि केद्र की तुलना में राज्यो ने कर के क्षेत्र मे बेहतर प्रदशन किया है। सन् 1980 के दशक के अंतिम वर्षो मे राज्यों का कर राजस्व जी डी पी. का 5 7 प्रतिशत रहा, जो अब बढकर लगभग 6 प्रतिशत हो गया है (देखे तालिका-12)। केंद्रीय करो में उनकी हिस्सेदारी भी स्थिर बनी हुई है। इस प्रकार केंद्रीय सरकार की तरह राज्यों के कर-राजस्व में कमी नहीं हुई है। इसके उलट गैर कर-राजस्व (प्रयोगकर्ता शुल्क + राज्यों के सार्वजनिक उपक्रमो से प्राप्ति) मे गिरावट आई। नब्बे के दशक मे ऋण संबंधी देनदारियो तथा अन्य गैर-विकासात्मक खर्चो में बढ़ोतरी के कारण राज्यो का राजस्व व्यय और राजस्व घाटा बढा है। इसके कारण राज्यों के योजनागत खर्चों पर प्रतिकूल असर पडा है।

कुल व्यय का प्रतिशत						
1. राजस्व व्यय (क+ख+ग)	11 1	13 1	13.6	13 5	13 9	14 1
(क) विकासात्मक	7.9	9 1	8 9	8 1	8 5	7 8
(ख) गैर-विकासात्मक	3.1	3 8	4.6	5 2	5 2	6 0
ब्याज अदायगी तथा ऋण	0 9	1.5	2 0	2 2	2.3	2 3
भुगतान पेंशन	0 3	0 5	0.6	0 8	0 8	0 9
अन्य व्यय	1 9	1 7	2.0	2 2	2 1	2 8
(ग) अन्य व्यय	0 1	0.1	0 2	0.2	0 2	0 2
2 पूँजीगत विवरण (क+ख)	5.0	4.3	3 4	2 8	3 0	2 8
(क) कुल पूँजीगत व्यय	2.1	2.0	1 6	1.6	1 7	1 5
विकासात्मक	2.1	1.9	1 6	1 5	1 6	1 4
गैर-विकासात्मक	0.1	0.1	0 0	0 1	0 1	0 1
(ख) अन्य	2.9	2 3	1 8	1 3	1.3	1 3
कुल व्यय (1+2)	16.1	17.3	17 0	16 4	16 9	16 8

कुल व्यय का प्रतिशत						
1. राजस्व व्यय (क+ख+ग)	68 9	75.5	80 0	82.7	82 1	83 6
(क) विकासात्मक	48.9	52 7	52.3	49.6	49.9	46 4
(ख) गैर-विकासात्मक	19.1	21.9	2 68	32.0	30.8	35 9
ब्याज-अदायगी तथा ऋण भुगतान	5 3	8 8	11 5	13.4	13 6	13 9
पेंशन	2 1	3 2	3.7	4.8	5.0	5 2
अन्य व्यय	11.7	10 0	11.5	13 7	12 2	16 8
(ग) अन्य व्यय	0 9	0 8	0 9	1.1	1.3	1 3
2. पूँजीगत विवरण (क+ख)	31.1	24 5	20 0	17 3	17 9	16 4
(क) कुल पूँजीगत व्यय	13.2	11 2	9 7	9 5	10 0	8 9
विकासात्मक	12 8	10.9	9 4	9 1	9 6	8 5
गैर-विकासात्मक	0 3	0.3	0 3	0 4	0 4	0 4
(ख) अन्य	17 9	13.2	10 3	7 9	7 9	7 5
कुल व्यय (1+2)	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0

तालिका 12

प्रादेशिक सरकारों के कुल राजस्व का स्वरूप (1980-2000)

	1980-85	1985-90	1990-95	1995-99	1997-98	1998-99
जी डी पी. का प्रतिशत						
1 राजस्व प्राप्ति (क+ख)	11 5	12.8	12.8	12 3	12.5	12 3
क कर-राजस्व	7 6	8.5	8 5	8 6	8.8	8 9
राज्य कर से प्राप्त राजस्व	5 1	5.7	5 7	5 8	6.0	6 0
केंद्रीय करों में हिस्सा	2 5	2 8	2 7	2 8	2.8	2 9
ख गैर कर-राजस्व	3.9	4.3	4 4	3 7	3 7	3 4
2 पूँजीगत प्राप्ति	4 1	4 6	4 3	3 9	4.2	4 1
केंद्रीय ऋण	2.3	2 7	2 1	2 0	2.2	2 2
ऋण वसूली	0 4	0 3	0 4	0 3	0 3	0 1
अन्य प्राप्ति	1 5	1 6	1 8	1 6	1.7	1 8
कुल राजस्व (1+2)	15 6	17 4	17.1	16.2	16.7	16 5
कुल राजस्व का प्रतिशत						
1 राजस्व प्राप्ति (क+ख)	73 7	73 6	75 0	75 9	74.9	74 8
क. कर-राजस्व	48 6	48 8	49 5	53 2	52.9	54 1
राज्य कर से प्राप्त राजस्व	32 5	32.6	33 5	36 1	35.9	36 7
केंद्रीय करों में हिस्सा	16 2	16.2	16 0	17 1	16.9	17 4
ख. गैर कर-राजस्व	25.1	24 8	25 5	22 7	22.0	20 7
2. पूँजीगत प्राप्ति	26 3	26 4	25 0	24 1	25.1	25 2
केंद्रीय ऋण	14 6	15 5	12.1	12 4	13.1	13 4
ऋण वसूली	2 4	1.7	2.3	1 8	1.6	0 8
अन्य प्राप्ति	9.3	9.1	10.6	9 9	10 4	11 0
कुल राजस्व (1+2)	100.00	100.00	100.00	100 00	100.00	100 00

अस्सी के दशक की शुरुआत से ही राज्यों की वित्तीय स्थिति में काफी गिरावट दिखने लगी थी। परिणामस्वरूप केंद्र की तुलना में उनका योजनागत खर्च संबंधी विकास सुस्त हुआ (देखें तालिका-13)। इससे सामाजिक तथा ढाँचागत तंत्र में निवेश की राज्यों की क्षमता प्रभावित हुई।

तालिका-13

योजना व्यय में राज्यों का अंश (1951-2002)

योजना	केंद्र (प्रतिशत)	राज्य (प्रतिशत)
पहली (1951-56)	36	64
दूसरी (1956-61)	54	46
तीसरी (1961-66)	49	51
वार्षिक (1966-69)	51	49
चौथी (1969-74)	50	50
पाँचवीं (1974-79)	48	52
वार्षिक (1979-80)	46	54
छठी (1980-85)	53	47
सातवी (1985-90)	59	41
आठवी (1992-97)	62	38
नौवीं (1997-2002)	58	42

नोट : प्रथम से सातवीं योजना तक : वास्तविक आठवीं योजना : अनुमानित नौवीं योजना स्वीकृत।

स्रोत : प्रथम पंचवर्षीय योजना से सातवीं पंचवर्षीय योजना तक : अमरेश बागची तथा अन्य (1992 बी) आठवीं तथा नौवीं पंचवर्षीय योजना : योजना आयोग (1998)

मौजूदा योजनागत प्रणाली के अंतर्गत केंद्रीय सरकार एक ऐसी वित्तीय एजेंसी के रूप में उभरी है, जो जनता से अलग-अलग तरीकों से ऋण जुटाकर केंद्र तथा राज्यों के स्तरों पर योजनागत खर्चों का वित्त-पोषण करती है। इस व्यवस्था में परियोजनाओं के औचित्य तथा उनकी वित्तीय कीमतों के बीच कोई तालमेल नहीं है। राज्यों को दी जानेवाली योजनागत खर्च संबंधी केंद्रीय सहायता के लिए गाडगिल फार्मूला, जिसके तहत राज्यों द्वारा किए जानेवाले व्यय की समीक्षा के बगैर ही उन्हें 70 प्रतिशत तक ऋण दिया जाता है, लागू करने के बाद वित्त-पोषण के संसाधनों और उनके समुचित इस्तेमाल के संपर्क-सूत्र पूरी तरह समाप्त हो गए हैं। विभिन्न वित्त आयोगों ने राज्यों द्वारा सार्वजनिक तथा निजी संसाधनों के लिए वित्त-पोषण मे भेदभाव नहीं रखनेवाली इस व्यवस्था के टिकाऊ न होने के बारे में

टिप्पणिया का ह इन सबका परिणाम यह हुआ है कि इस प्रकार के निवेशा पे प्राप्त होनेवाले लाभ काफी कम है।

मौजूदा व्यवस्था के तहत प्रादेशिक सरकारे योजना आयोग के गाडगिल फार्मूला के अनुसार केंद्रीय सरकार मे ऋण लेती है। इन सरकारो द्वारा बाजारो से लिये जानेवाले ऋणों के मामले में भी केंद्रीय सरकार के निर्देश लागू होते है और भारतीय रिजर्व बैंक भी विभिन्न राज्यो के लिए समान ब्याज-दर पर ऋण जुटाता है। इस प्रकार उनके ऋणों को उनकी ऋण अदायगी की क्षमता से नही जोडा जाता। दूसरे, ऋण अदायगी संबधी भुगतान की व्यवस्था उनके बजट में कर दी जाती है। ऐसा करते समय उन परियोजनाओ की सफलता या अन्य स्थितियों पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता, जिनके लिए ऋण के जरिये ससाधन जुटाए जाते हैं। अब तक ऋण अदायगी के मामले मे सभी राज्यो का प्रदर्शन ठीक-ठाक रहा है, परंतु इन भुगतानों के चलते चालू खर्चो का पर्याप्त स्तर बनाए रखने या नए निवेश करने की उनकी क्षमता प्रभावित हुई है। दरअसल, राज्यो के राजकोषीय स्वास्थ्य और ऋण जुटाने की क्षमता के बीच कोई सबंध नहीं रहने के कारण वित्तीय क्षेत्र में गैर-जिम्मेदार साबित हुए है और प्रयोगकर्ता शुल्क को लोकप्रिय जनभावनाओं के आधार पर तय करते है।

सिद्धांत रूप मे देखा जाए तो सार्वजनिक सामान पर किए जानेवाले निवेश से अधिक कर-राजस्व मिलना चाहिए, जबकि निजी सामान पर निवेश से सार्वजनिक सेवाओं के लिए उपभोक्ता शुल्क के जरिये अधिक राजस्व प्राप्त होना चाहिए। ऐसा ही प्रादेशिक सरकार के स्तर पर भी होगा। राज्य स्तर पर ज्यादातर सार्वजनिक धन बिजली बोर्डों के जरिये बिजली-उत्पादन, वितरण और पोपण पर तथा राज्य सडक निगमों, शहरी बुनियादी सेवा के विकास के लिए शहरी विकास प्राधिकरणो, सिचाई, आवास आदि मदों पर खर्च हो रहा है। इसमें सिंचाई को छोड़कर बाकी ज्यादातर गतिविधियाँ सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के माध्यम से चलाई जा रही हैं। राज्य स्तर पर सिचाई सुविधाओ का सचालन सरकार के सिंचाई विभाग करते हैं। अगर ये उपक्रम अपनी सेवाओं के बदले में समुचित आर्थिक मूल्य लेते तो वे लाभ कमाकर सरकार को दे सकते थे और अपना ऋण खुद निपटा सकते थे, लेकिन वास्तविकता यह है कि ये उपक्रम न तो लाभ कमा पा रहे हैं और न ही अपने कर्ज को उतार पा रहे हैं। और तो और ये उपक्रम अपनी सेवाओ के विस्तार के लिए आंतरिक संसाधन भी नहीं जुटा पा रहे हैं।

तालिका-14 मे यह स्पष्ट है कि जिसमे छठीं, सातवीं तथा आठवीं पंचवर्षीय

राज्यों की योजनाओं के वित्त पोषण का स्वरूप

स्रोत	छठी योजना[1] (1980-85) (1979-80 मूल्य)		सातवीं योजना[1] (1995-90) (1984-85 मूल्य)		आठवी योजना[2] (1992-97) (1991-92 मूल्य)		नवी योजना[3] (1997-98) (चालू मूल्य)		नवी योजना[3] 1998-99[4] (चालू मूल्य)	
	रु. करोड़	कुल का प्रतिशत	रु. करोड़	कुल का प्रतिशत	रु करोड	कुल का प्रतिशत	रु. करोड	कुल का प्रतिशत	रु. करोड	कुल का प्रतिशत
1 चालू राजस्व में से शेष	14826	41	17368	23	-2009	-1.4	-8703	-17.7	17360	-25
2. सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का योगदान	-4620	-13	-3757	-5	-2723	-1.9		—		
3. कुल ऋण	12679	35	27644	37	75750	52	38350	78	61110	88
क. कुल शेष ऋण	3406	9	9242	12						
ख लघु निवेश	5901	16	19070	26		-				
ग. वित्तीय संस्थानों से अवभिगत ऋण	1887	5	4445	6						
घ विविध पूँजीगत प्राप्ति	-2012	-6	-5113	-7						
ङ. बजट घाटा	3497	10								
I. राज्यों के कुल संसाधन	22885	63	41255	55	70335	48	29650	60	43750	63
II केंद्रीय मदद	13690	37	33264	45	75750	52	19520	40	25695	3
III कुल संसाधन	36575	100	74519	100	146085	100	49172	100	69445	100

योजना और नौवी पंचवर्षीय योजना के शुरू के 2 साल की राज्य योजना के वित्तीय ऑकडे दिए गए है। राज्य योजनाओ के लिए मौजूदा राजस्व का अधिशेष योगदान छठी पचवर्षीय योजना में 40 प्रतिशत के ऊँचे आँकड़े पर था, जो आठवीं योजना मे शून्य से कम के स्तर पर आ गया। इसी तरह इस पूरी अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का योगदान लगातार नकारात्मक रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रादेशिक सरकारों की उधारी लगातार बढ़ती गई है। यह उधारी छठी योजना मे राज्य योजना के कुल संसाधन का 34 प्रतिशत हुआ करती थी, जो आठवीं योजना मे बढ़कर 50 प्रतिशत से ऊपर जा पहुँची। इसी अनुपात में केंद्रीय सहायता का हिस्सा भी बढा है। यह छठी योजना में 37 प्रतिशत था, जो आठवीं योजना मे बढकर 50 प्रतिशत हो गया।

नौवीं योजना मे स्थिति और भी खराब हो गई है। उधारी की इस प्रवृत्ति के कारण बाजार की उधारी में भी इजाफा हो रहा है। पिछले कुछ साल में बाजार की उधारी तेजी से बढ़ी है।

प्रादेशिक सरकारो की बिगड़ती वित्तीय स्थिति तालिका-15 से स्पष्ट है। अस्सी के दशक मे सकल राजकोषीय घाटे के अनुपात में पूँजी परिव्यय 62 प्रतिशत था, जो अब 50 प्रतिशत से भी नीचे चला गया है। फलस्वरूप प्रादेशिक सरकारों की उधारी अब ज्यादा से ज्यादा पूँजीगत खर्चो के बजाय राजस्व खर्चो पर हो रही है। इससे आनेवाले वर्षों में वित्तीय स्थिति और भी बिगड़ सकती है। अगर मौजूदा व्यवस्था को नहीं बदला गया तो निवेश के लिए उपलब्ध संसाधन लगातार सिमटते जाएँगे।

तालिका-15

राज्य सरकारों के चुनींदा राजकोषीय अनुपात (1985-98)

वर्ष	पूंजीगत व्यय/ सकल राजकोषीय घाटा (प्रतिशत)	ब्याज भुगतान/ राजस्व खर्च (प्रतिशत)	राजस्व घाटा/ सकल राजकोषीय घाटा (प्रतिशत)
1985-90	62.4	10.8	7.7
1990-95	55.3	13.6	24.6
1996-98	47.5	15.8	35.8

स्रोत : भारतीय रिजर्व बैंक का फरवरी 1998 बुलेटिन। पूरक . राज्य सरकारों के वित्त।

सामान्य तौर पर यह देखा गया है कि जो राज्य बेहतर और जिम्मेदाराना राजकोषीय प्रदर्शन करते थे, उनकी आर्थिक स्थिति भी अच्छी थी, लेकिन अब ऐसी स्थिति नहीं रही है। राजकोषीय समस्या अब समस्त राज्यों की समस्या बन गई है। सन् 1998-99 के वित्त वर्ष मे कर्नाटक को छोडकर बाकी सभी राज्यो की स्थिति नकारात्मक पाई गई। पश्चिम बंगाल तथा कुछ अन्य राज्यो में सार्वजनिक उधारी उनकी कुल योजना राशि से ऊपर निकल गई।

मुख्य मुद्दे

भारत मे प्रादेशिक सरकारों की निवेश व्यवस्था टिकाऊ नहीं है। यह समस्या मुख्य रूप से इसलिए पैदा हुई है, क्योंकि उधारी और पूँजीगत निवेश के खर्च के इस्तेमाल के बीच कोई तालमेल नही है। यह स्थिति विडंबनापूर्ण है क्योकि भारत मे केंद्रीय सरकार के समुचित नियत्रण में प्रादेशिक सरकारों की वित्तीय सेहत दुरुस्त रखने की व्यवस्था की गई थी। प्रादेशिक सरकारों को घाटे की वित्तीय गतिविधियाँ चलाने की छूट नहीं दी गई और अतिरिक्त वित्त उपलब्ध होने की समस्या खड़ी हो गई।

प्रादेशिक सरकारों पर उधारी के बारे मे थोपी गई सीमाओं के कारण और खर्च की माँग के दबाव में उन सरकारों मे सार्वजनिक उपक्रमों के जरिये उधारी लेने की प्रवृत्ति प्रादेशिक सरकारें बाजार से भी सीधे उधार ले रही हैं। हाल तक प्रादेशिक सरकारों की गारंटियाँ बाजार से पर्याप्त उधारी के लिए सक्षम थीं, लेकिन इन गारटियों के बढने से उधार देनेवाली संस्थाएँ अब इन गारंटियों की विश्वसनीयता पर सवाल खडे करने लगी हैं। उधारदाताओं से यह माँग भी की जाने लगी है कि प्रादेशिक सरकारें अपनी खास ऋण रेटिंग भी तय करें। इस कदम का उद्देश्य प्रादेशिक सरकारों की कुल देनदारियों को पारदर्शी बनाना है।

जिन समस्याओं का जिक्र ऊपर किया गया है, उनसे स्पष्ट है कि ये कदम व्यवस्था के दोनों सिरों पर उठाने होंगे। निजी वस्तुओं पर निवेश के प्रावधान को समुचित उपभोक्ता शुल्क से जोडना होगा। अभी समस्या यह है कि उधारी क्षमता और उपभोक्ता शुल्क का निर्धारण राजनीतिक स्तर पर हो रहा है। आशा है कि अगर ससाधन जुटाने की क्षमता किसी निकाय की वित्तीय स्थिति पर निर्भर हो तो उससे उपभोक्ता शुल्क के मामले मे राजनीतिक सोच में भी बदलाव आएगा।

सार्वजनिक वस्तुओं पर निवेश के लिए संसाधन जुटाने के लिए यह बेहतर होगा कि प्रादेशिक सरकारों की ऋण साख तय हो, ताकि उनकी उधारी लेने की क्षमता राज्य की वित्तीय स्थिति पर आधारित हो। नीति-नियामकों को संकेत देने

की समुचित व्यवस्था से प्रादेशिक सरकारो की वित्तीय स्थिति ठीक करने मे आसानी होगी।

उच्च विकास-दर हासिल करने के लिए संबंधित प्रमुख मुद्दे

हम देख चुके है कि केंद्रीय और प्रादेशिक सरकारों—दोनों की मौजूदा वित्तीय स्थिति डॉवाँडोल है और इससे आर्थिक विकास-दर को गंभीर खतरा है।

व्यापक पैमाने पर यह माना जा रहा है कि वित्तीय स्थिति बेहतर नही है लेकिन इसके खतरो को ठीक से महसूस नही किया गया है। केद्र और राज्यो का कुल राजकोषीय घाटा सकल घरेलू उत्पाद के करीब 10 प्रतिशत पर पहुँच चुका है। इसका अर्थ यह है कि केद्रीय और प्रादेशिक सरकारे कुल मिलाकर प्रतिवर्ष राष्ट्रीय आमदनी का 10 प्रतिशत उधार ले रही हैं।

विकास-दर

इन ससाधनों का लगभग आधा हिस्सा वेतन आदि की अदायगी जैसे खर्च पर लगाया जा रहा है। अगर ऐसा ही क्रम चलता रहा तो एक दिन नाबत यह आएगी कि उधारी का सारा धन इन्हीं खर्चो पर लगेगा और निवेश के लिए कुछ नही बचेगा। सार्वजनिक निवेश मे कटौती की रफ्तार को देखते हुए निजी निवेश भी स्थायी नहीं रहेगा। इन सबका असर विकास-दर पर होना निश्चित ही है। विकास-दर घटते जाने से राजकोषीय स्थिति और भी बिगड जाएगी।

इस तरह की राजकोषीय गैर-जिम्मेदारी के कुछ चिह्न ब्राजील के सन् 1998 के संकट मे देखे जा सकते हैं। तब ब्राजील के राज्य वहाँ की सघीय सरकार की देनदारियाँ नहीं चुका पाए थे। इससे ब्राजील की ऋण साख बेहद गिर गई और उसे मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ा। नीतिगत सुधार के आपात उपाय भी ब्राजील को करने पड़े।

तकनीकी तौर पर देखा जाए तो भारत के कुछ राज्य केंद्र की अदायगी में चूक कर रहे हैं। इस स्थिति को पाटने के लिए केद्र को कई तरह के समायोजन करने पड़ रहे हैं। अगर केंद्रीय स्तर पर राजकोषीय घाटे पर काबू नहीं पाया गया तो केंद्र की उधारी बढ़ेगी, जिससे ब्याज-दरें सख्त होंगी। इसका असर औद्योगिक और कुल मिलाकर आर्थिक विकास-दर पर पडेगा। देश के भुगतान-सतुलन की बाह्य स्थिति कुल मिलाकर नियंत्रण में है। सन् 1991 के बाद से ही विदेशी कर्जों पर कडी निगरानी है। इस समय की जरूरतों के हिसाब से विदेशी मुद्रा भंडार की स्थिति भी पर्याप्त से अधिक है। इसके बावजूद पिछले वर्ष अतरराष्ट्रीय साख

निर्धारण एजेंसियों ने भारत की साख कम करके आँकी। इसका कारण यह रहा कि वे राजकोषीय घाटा नियंत्रित करने के बारे मे उठाए गए कदमों से संतुष्ट नही थे।

उच्च विकास-दर हासिल करने के लिए सभी मोरचों पर ठोस कदम उठाने की जरूरत है। लोक स्वास्थ्य सेवाओं, शिक्षा, पोषण आदि मदों में सुधार के लिए प्रमुख प्रावधान करने होंगे। जहाँ तक बुनियादी सुविधाओ का सवाल है, सड़कों रेल यातायात, बंदरगाहों, दूरसंचार, बिजली, नागरिक उड्डयन तथा शहरी सुविधाओं पर खास ध्यान देना होगा। इसमें निजी निवेश की अहम भूमिका होगी।

जिन क्षेत्रों में निजी निवेश के लिए आसानी है, वहाँ भी सार्वजनिक निवेश को जारी रखना होगा। आर्थिक विकास की दर बढ़ने के हिसाब से औद्योगिकीकृत शहरीकरण भी बढ़ेगा। ऐसे मे शहर की बुनियादी सुविधाओ के विकास पर खास ध्यान देना होगा। हमारे शहरो और कसबो में बुनियादी सुविधाओं का अभाव कई सामाजिक समस्याओं को जन्म दे रहा है। इससे आंतरिक सुरक्षा पर खर्च भी बढ़ना है। लिहाजा राष्ट्रीय सुरक्षा की स्थिति मजबूत रखने की दृष्टि मे भी इन मदो पर निवेश करना बेहतर है।

ऐसी स्थिति मे क्या करना चाहिए? राजकोषीय सुधारो का मुख्य जोर ऋण-सेवाओ की अदायगी कम करने पर देना होगा। सार्वजनिक ऋणों को कम करके और राजस्व बढ़ाकर यह लक्ष्य हासिल किया जा सकता है। कर-दरें बढ़ाकर राजस्व बढाना न तो वांछनीय है और न ही व्यावहारिक। कर-आधार बढ़ाकर और कर-वसूली को कारगर बनाकर ही राजस्व बढ़ाना श्रेयस्कर है। कुल राजस्व बढाने के लिए—1 कर-आधार बढ़ाना होगा, 2. सभी गैर-प्राथमिकतावाली वस्तुओं पर उपभोक्ता शुल्क लगाना होगा, 3 निजीकरण की दिशा मे व्यापक और साहसिक कदम उठाने होंगे।

कर-आधार का विस्तार

सकल घरेलू उत्पाद के हिसाब से सन् 1990 में प्रत्यक्ष करों की वसूली म गिरावट आई। आर्थिक उदारीकरण के कारण कस्टम शुल्क मे कमी आने से कर-संग्रह भी कम होने और आनेवाले वर्षों में शुल्क-दरें घटने की संभावना है। ऐसी स्थिति मे परोक्ष करों की वसूली में तेजी केंद्रीय स्तर पर उत्पाद शुल्क की वसूली से ही आ सकती है। सकल विकास में कृषि का अंश घटने के साथ राजस्व में बढ़ोतरी हो सकती है, क्योंकि कृषि क्षेत्र कुल मिलाकर टैक्स के दायरे से मुक्त है। सच तो यह है कि सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा सन् 1980-81 के 40 प्रतिशत से घटकर अब 26 प्रतिशत पर आ गया है। इसी हिसाब से दूसरे क्षेत्रो का

हिस्सा 24 प्रतिशत से बढ़कर 28 प्रतिशत हो गया है और सेवा क्षेत्र का अंशदान 36 प्रतिशत से बढ़कर 45 प्रतिशत हो गया है। भविष्य में भी कृषि का हिस्सा घटने और सेवा क्षेत्र का योगदान बढ़ने की पूरी संभावना है।

इस स्थिति को देखते हुए कर-राजस्व बढ़ाने की खातिर सेवा क्षेत्र पर परोक्ष-कर लगाना जरूरी है। अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में मूल्य आधारित-कर लगाकर यह लक्ष्य हासिल किया जा सकता है।

उपभोक्ता शुल्क का महत्त्व

सार्वजनिक निवेश का एक बड़ा हिस्सा लोकसेवाओं के प्रावधान में है। इन संगठनों का ढाँचा इस तरह तैयार किया गया है कि जनता उनकी सेवाओं के बदले कोई शुल्क नहीं देने की आदी हो गई है। बिजली, पानी, सिंचाई और परिवहन की सुविधाएँ इसमें शामिल हैं। वित्त मंत्रालय के एक आकलन के अनुसार, ऐसे गैर-प्राथमिकतावाले क्षेत्रों पर सरकार सकल घरेलू उत्पाद का 10.5 प्रतिशत अधिक परोक्ष सब्सिडी दे रही है। बिजली के मामले में ही 25 हजार करोड़ रुपए का सालाना घाटा उठाना पड़ रहा है। इसका मुख्य कारण यही है कि जनसेवाओं का समुचित मूल्य नहीं लिया जा रहा है। आँकड़ों से स्पष्ट है कि सरकारी खर्च के बोझ का मूल कारण वेतन नहीं है। अन्य कारणों से सरकारी तंत्र में कटौती करना जरूरी हो सकता है, लेकिन इससे खर्च में कटौती कुछ ज्यादा नहीं होगी।

अगर आम जनता इन सेवाओं का मूल्य नहीं चुकाने की आदी हो गई है तो इसके दो प्रमुख कारण हैं। यह मान लिया गया है कि ये सेवाएँ सरकार देती है। लिहाजा इनका मूल्य चुकाने की जरूरत नहीं है। दूसरे, इन सेवाओं का स्तर इतना खराब है कि लोग समुचित सेवा शुल्क देने का मन नहीं बना पाते। यह ऐसा दुष्चक्र है, जिसे तत्काल तोड़ने की जरूरत है। सेवाओं पर उपभोक्ता शुल्क बढ़ाने के साथ-साथ इन सेवाओं के स्तर में भी सुधार करने होंगे। सेवाओं की कुशलता बढ़ेगी तो उपभोक्ता शुल्क में भी कमी आने की संभावना है।

सरकार को उधारी से किए जानेवाले निवेश से फायदे होंगे, तभी देश की वित्तीय सेहत ठीक की जा सकेगी।

यदि सरकार को उसके द्वारा किए गए निवेश पर आय होगी, तभी वित्तीय स्थिति स्वस्थ होगी, क्योंकि सरकार यह निवेश उधारी के धन से करती है। सेवाओं पर समुचित शुल्क नहीं लगाने के पीछे तर्क यह दिया जाता है कि देश की गरीब जनता इन जरूरी सेवाओं का उपयोग कैसे कर पाएगी, लेकिन व्यवहार में इस तर्क में कोई दम नहीं है कि गरीब इन सेवाओं के लिए उचित भुगतान नहीं

कर सकते हैं। वास्तव मे समाज का समृद्ध तबका इन सेवाओं का ज्यादा इस्तेमाल करता है। उदाहरण के तौर पर—गाँवो मे कम से कम 60 प्रतिशत घरो मे और शहरों मे करीब 20 प्रतिशत घरों मे बिजली के कनेक्शन नही हैं। यहाँ तक कि शहरों में भी केवल 60 प्रतिशत घरो मे ही पानी की टोंटियाँ है। इससे भी कम घरो मे भीतर ही शौचालय की व्यवस्था है। इसका अर्थ यह हुआ कि बुनियादी सुविधाओं के लिए दी जा रही सब्सिडी गरीबो तक नही पहुँच रही है। इससे यह साबित होता है कि गरीबो के कल्याण-कार्यो को प्रभावित किए बिना उपयुक्त शुल्क लगाया जा सकता है। वास्तव मे सचाई यह है कि ऊँचे तबके से यदि पूरी वसूली प्राप्त की जा सके तो गरीबो को आवश्यक सेवाएँ उपलब्ध कराने की अच्छी संभावनाएँ बन जाएँगी।

केंद्रीय और प्रादेशिक सरकारों—दोनो की वित्तीय स्थिति में सुधार लाया जा सकता है। यदि जरूरी सुधार कर लिया जाए तो 5 वर्ष के भीतर ही यह काम किया जा सकता है। इसके बाद ही ये दोनों सरकारें सामाजिक और भौतिक सुविधाओं के क्षेत्र में उपयुक्त निवेश कर सकेंगी, जो सामाजिक न्याय, आर्थिक वृद्धि और आर्थिक सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं; लेकिन ये सुधार कार्य केवल घोषणाओं के जरिये नही किए जा सकते हैं। इनके लिए अनुसंधान, जन-जागरण, लोकशिक्षा आदि की आवश्यकता है। केंद्रीय सरकार को इस प्रकार के अभियान का नेतृत्व करना चाहिए और प्रादेशिक सरकारों को भी उनके साथ तालमेल तथा सहमति कायम कर इस अभियान में शामिल करना चाहिए। उन्हें भी स्थानीय निकायों के जरिये यह काम करना चाहिए। यह भी उल्लेखनीय है कि जब तक सेवाओ की गुणवत्ता में सुधार और क्षमता का विस्तार नहीं होगा, तब तक सेवाओं के ऊँचे शुल्क के लिए स्वीकार्य वातावरण बनाना मुश्किल होगा। इन सब बातों के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में व्यापक पैमाने पर सुधार लाने होंगे।

विभिन्न सेवाओ के उपयोग शुल्क मे वृद्धि से भविष्य में बजट मे लाभ ही होगा। इसके लिए प्रक्रिया में बड़ा बदलाव लाना होगा और वांछित परिणाम हासिल करने में समय लगेगा। सरकार को मूलभूत सुविधाओं के हर क्षेत्र का परीक्षण नजदीक से करना होगा और प्रत्येक क्षेत्र मे आर्थिक लागत लगाने के बारे में चरणबद्ध कार्यक्रम बनाना होगा। इस सबंध मे स्वतंत्र नियामक प्राधिकरणों की नियुक्ति से पूरी प्रक्रिया को राजनीतिक रंग देने से बचा जा सकेगा; लेकिन यह प्रक्रिया तभी सफल होगी, जब नियामक प्राधिकरणों को स्वतंत्र स्वरूप दिया जाए और अफसरशाही तथा राजनीतिक संस्थाएँ प्राधिकरणों के स्वतंत्र स्वरूप का सम्मान

करे। इस प्रकार के कुछ नियामक प्राधिकरणों का गठन पहले भी हो चुका है उम्मीद है कि नई प्रक्रिया की शुरुआत हुई है। अनुभवी लोगों और विशेषज्ञों की नियुक्ति कर इन प्राधिकरणों को मजबूत बनाया जाना चाहिए और स्वतंत्र रूप से काम करने दिया जाना चाहिए। यह पूरा अभियान समयबद्ध होना चाहिए।

देश की वित्तीय स्थिति में सुधार लाने के लिए हम 5 वर्ष से अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते हैं। इस स्थिति के मध्यकालिक उपायों के तौर पर ऋण चुकाकर संसाधन उपलब्ध कराए जाने चाहिए। ये संसाधन निजीकरण से ही प्राप्त किए जा सकते हैं।

निजीकरण

सार्वजनिक उधारी की अदायगी के लिए अथाह पूँजी संसाधनों की जरूरत है। केंद्रीय और प्रादेशिक दोनों—स्तरों पर साहसी और व्यापक निजीकरण से ये संसाधन जुटाए जा सकते हैं। अब पुरानी मान्यताएँ त्यागकर सामरिक महत्त्व के सार्वजनिक उपक्रमों के अलावा बाकी सभी क्षेत्रों में निजीकरण करने का समय आ गया है। इस कार्यक्रम को विनिवेश से अलग रखना चाहिए। विनिवेश की प्रक्रिया आधे-अधूरे मन से चलाई गई है। विनिवेश के उद्देश्यों में अस्पष्टता की वजह से ऐसा हुआ है।

प. जवाहरलाल नेहरू ने सार्वजनिक क्षेत्र का जो विचार दिया था, वह बाद के वर्षों में अलग ही रास्ते पर चल निकला। सार्वजनिक क्षेत्र के बारे में नेहरू की अवधारणा अर्थव्यवस्था को बेहद ऊँचाई पर ले जाने की थी, अतल गहराई में ले जाने की नहीं। उस समय निजी क्षेत्र को अपर्याप्त समझा गया था और सार्वजनिक क्षेत्र से उम्मीद की गई थी कि वह अर्थव्यवस्था में अधिक कार्यकुशलता लाएगा। यह माना गया था कि कार्यकुशल सार्वजनिक क्षेत्र अथाह संसाधन जुटाने में सहायक सिद्ध होगा, लेकिन हुआ उसका उलटा। हालाँकि यह मानना होगा कि ढाँचागत मामलों और भारी उद्योगों में सार्वजनिक उपक्रमों की अहम भूमिका है।

निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में उच्च निवेश एवं उच्च विकास-दर हासिल करने के लिए व्यापक शेयर भागीदारी की जरूरत होगी। सरकार के पास इतने संसाधन नहीं हैं कि वह उच्च विकास-दर सुनिश्चित कर सके। व्यापार खोलने और पहले आरक्षित माने जानेवाले सार्वजनिक उपक्रमों को अनारक्षित करने तथा विदेशी निवेश के लिए उदारीकरण करने से प्रतिस्पर्धा की स्थिति पैदा हुई है। ऐसे प्रतिस्पर्धी वातावरण में मुक्त माहौल और लचीलेपन की जरूरत होती है; वह सरकारी बंदिशों से बाधित होती है।

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के निजीकरण के बारे में स्थिति एकदम स्पष्ट होनी चाहिए। यह कदम उठाना सिर्फ संसाधन जुटाने के लिए ही जरूरी नहीं, बल्कि इन उपक्रमो की दीर्घायु के लिए भी आवश्यक है। ये उपक्रम आगे चलकर भारत की बहुराष्ट्रीय कंपनियों का रूप ले सकते हैं। इन उपक्रमो को सरकारी बेड़ियों से मुक्त किया जाना चाहिए।

अब यह साफ है कि विनिवेश के लिए अपनाई गई प्रक्रिया सफल नहीं हुई है। विनिवेश के उद्देश्य स्पष्ट नहीं हैं। यह प्रक्रिया नौकरशाही के शिकंजे मे है और विनिवेश के लक्ष्य भी पूरे नहीं हो पाए हैं। निजीकरण की प्रक्रिया सामान्य ढग से नहीं चलाई जा सकती। यह भी स्पष्ट है कि साहसी दृष्टिकोण अपनाना भी आसान नहीं है।

सबसे पहले सरकार को निजीकरण के उद्देश्य स्पष्ट करते हुए आम सहमति के प्रयास करने होंगे। पहला उद्देश्य तो यही होना चाहिए कि ये उपक्रम इतने मजबूत हों कि प्रतिस्पर्धा में शामिल होते हुए प्रगति कर सकें और देश की वित्तीय स्थिति में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकें। यह सब घोषणाओं से सभव नहीं है। इसके लिए राजनीतिक और नौकरशाही—दोनों स्तरो पर प्रक्रियागत परिवर्तनो की आवश्यकता है, लेकिन अब समय नहीं है और समस्या का सामना करने का वक्त आ गया है।

निजीकरण की प्रक्रिया से प्राप्त होनेवाले धन का इस्तेमाल मौजूदा खर्च उठाने के लिए कतई नही किया जाना चाहिए। इनका इस्तेमाल विशेष रूप से सार्वजनिक ऋण चुकाने मे ही किया जाना चाहिए, ताकि ब्याज का बोझ लगातार घटता चला जाए। निजीकरण के परिणाम अतीत के सार्वजनिक निवेश से प्राप्त होगे। भविष्य में सार्वजनिक निवेश कैसे सुनिश्चित किया जाए, ताकि सरकार को वित्तीय स्थिति के सुधार करने मे मदद मिलती रहे—यह भी अहम सवाल है। मुझे लगता है कि सार्वजनिक निवेश के पूरे तंत्र की योजना-प्रक्रिया पर नए सिरे से विचार करने की जरूरत है। मौजूदा प्रक्रिया में हर स्तर पर जवाबदेही का अभाव झलकता है। निवेश के मौके से निवेश के निर्णय बेहद दूर हैं। केंद्रीय सरकार एक विशाल वित्तीय मध्यस्थ के रूप में काम करती है। वह जनता से संसाधन उधार लेती है और उन्हें कुछ परपराओं एव फॉर्मूलों के आधार पर प्रादेशिक सरकारों तथा अन्य निकायों को देती है। प्रादेशिक सरकारें इन संसाधनों को सरकारी सगठनों को मुहैया कराती हैं। ये संसाधन प्रदर्शन-आधारित नहीं हैं। यह भी सुनिश्चित नहीं किया जाता कि इन संसाधनों का कोई फायदा वापस मिलेगा या नहीं। यह तंत्र अब

व्यावहारिक नही रह गया है। इस बारे में नए दृष्टिकोण की जरूरत है।

देश का दीर्घावधि विकास सुनिश्चित करने के लिए आर्थिक विकास-दर मे निरंतर तेजी आनी चाहिए। इस मार्ग की सबसे बड़ी अड़चन यह है कि ढाँचागत क्षेत्र मे सार्वजनिक निवेश हम सुनिश्चित नहीं कर पा रहे हैं, जिससे केंद्रीय और प्रादेशिक सरकारों की वित्तीय सेहत डाँवाँडोल हो रही है। कर-राजस्व में गतिशीलता के अलावा यह भी आवश्यक है कि सभी सार्वजनिक सेवाओं के लिए उपभोक्ता शुल्क में सुधार किया जाए और निजीकरण के लिए नए कार्यक्रम अपनाए जाएँ। इन कदमों के अभाव में राजकोषीय हालत और भी बदतर होती जाएगी और निकट भविष्य में ही आर्थिक सुरक्षा खतरे मे पड़ जाएगी।

□

भारतीय अर्थव्यवस्था की वर्तमान दशा
कुछ झलकियाँ

—के.सी. पंत

पिछले कुछ समय से ऐसी आशंका जताई जा रही है कि अर्थव्यवस्था में पिछले राजकोषीय वर्ष में तेजी के बाद अब फिर मंदी आ रही है और यह भी कि नौवीं योजना के लक्ष्यों को हासिल करना शायद संभव न हो। सी.एस.ओ. द्वारा इस राजकोषीय वर्ष की प्रथम तिमाही के लिए जी.डी.पी. के आकलन तथा औद्योगिक उत्पाद के सूचकांक से भी इस दृष्टिकोण को समर्थन मिलता है। हालाँकि योजना आयोग प्राय: कम अवधि के पूर्वानुमानों के आधार पर कार्य नहीं करना और न ही हाल के रुझानों के मुताबिक अंतिम निर्णय लिया जाना चाहिए। भविष्य में अर्थव्यवस्था की संभावित स्थिति को मंदी के कारणों तथा आनेवाले महीनों में इन कारकों की कार्यप्रणाली के संदर्भो में समझने की कोशिश की जानी चाहिए।

योजना आयोग के मध्यवर्ती मूल्यांकन प्रारूप में कहा गया है कि पिछले 3 वर्षो के दौरान औद्योगिक विकास में आई मंदी का मुख्य कारण सार्वजनिक निवेश, विशेषकर ढाँचागत क्षेत्र में निवेश में कमी आना है। इसके अलावा पूर्वी एशियाई संकट के चलते हमारे निर्यात अपेक्षाकृत कम विकास तथा अंतरराष्ट्रीय व्यापार जगत् में छाई सुस्ती भी इसके लिए जिम्मेदार हैं। हालाँकि अब अंतरराष्ट्रीय स्तर पर व्यापार में छाई मंदी की प्रवृत्ति बदल चुकी है और हमारे निर्यात ने भी 20 प्रतिशत का अतिरिक्त विकास कर लिया है। जहाँ तक सार्वजनिक निवेश का सवाल है तो हमें स्वीकार करना होगा कि हमने पाँचवें वेतन आयोग के प्रभावों का, विशेषकर प्रादेशिक सरकारों का मूल्यांकन किया। परिणामस्वरूप केंद्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों ने योजना अवधि के पहले 3 वर्षों के दौरान ही निवेश संबंधी अपने लक्ष्य का 47 प्रतिशत जुटा लिया था, वहीं राज्य केवल 28

प्रतिशत लक्ष्य पूरा कर सके हैं।

अब स्थिति सुधर रही है। वेतन आयोग के प्रभाव भी कमोबेश समाप्त हो चुके हैं और आनेवाले महीनो में सार्वजनिक निवेश में तेजी आने की संभावना है। हालाँकि ऐसा पहले ही हो जाना चाहिए था, परंतु सार्वजनिक निवेश की नई परियोजनाएँ शुरू करने में देरी के कारण इसमे ढिलाई हुई। उदाहरण के लिए, जहाँ एक ओर डीजल अधिकार के जरिये जुटाए संसाधनों के बूते पर राष्ट्रीय राजमार्ग विकास परियोजना ठीक-ठाक ढंग से प्रगति कर रही है, वहीं ग्रामीण सडक कार्यक्रम अभी शुरुआती रुकावटों में ही उलझा है। इसी प्रकार केंद्रीय तथा प्रादेशिक सरकारो की अन्य निवेश परियोजनाएँ भी निर्धारित धनराशि की अनुपलब्धता के कारण अटकी हुई हैं। यह निश्चित रूप से गलती है। राजकोषीय वसूली की सभाव्यता के आधार पर इस बारे में पहले ही पर्याप्त तैयारी की जानी चाहिए थी, लेकिन अब स्थिति में सुधार होना शुरू हो गया है और लगता है कि निकट भविष्य में सार्वजनिक निवेश में काफी तेजी आएगी। अलबत्ता, यह कितनी जल्दी होगा या विकास की अपेक्षित गति के लिए आवश्यक बल यह जुटा पाएगा या नही, इस बारे में अभी से कुछ भी कहना कठिन है।

प्रधानमंत्री ने योजना आयोग को 9 प्रतिशत विकास-लक्ष्य को हासिल करने की संभावना की जाँच करने के निर्देश दिए हैं। यह कार्य जल्द ही पूरा हो जाएगा। यहाँ यह बताना जरूरी है कि यह लक्ष्य पाना असंभव बिलकुल नहीं है। देखना केवल यह है कि आवश्यक उपाय निर्धारित अवधि में लागू किए जा सकते है या नहीं। दूसरे, यह भी देखना होगा कि देश के सभी भाग ऐसी विकास-दरों के लिए तैयार हैं या नहीं, जो सकल लक्ष्यों की राह में सहायक बनेगी।

ज्ञान की सुपर शक्ति के रूप में भारत की भूमिका

डिजिटल प्रौद्योगिकी चुपचाप, परंतु निश्चित तौर पर देश के भीतर सामाजिक ढाँचे को बदलने तथा सामाजिक-आर्थिक विकास को बढ़ावा देने का कार्य कर रही है। इसके अपने सिद्धांत और नियम हैं। इन नियमों को अपनानेवाले लाभ कमा रहे हैं और इनसे अनजान विकास की दौड़ में पिछड़ रहे हैं। भूमडलीकरण के मौजूदा दौर में सूचना प्रौद्योगिकी सभी राष्ट्रों का समान भविष्य तय करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। दरअसल, वर्तमान सदी में तुलनात्मक फायदो तथा प्रतिस्पर्धात्मकता को सूचना प्रौद्योगिकी (आई.टी.) के इस्तेमाल के आईने मे परिभाषित करने की जरूरत है।

विश्व व्यापार सगठन (डब्ल्यू.टी.ओ) की स्थापना के बाद प्रत्येक दश अपनी क्षमता के हिसाब से विश्व अर्थव्यवस्था के अधिकाधिक हिस्से को प्राप्त कर सकता है और इस प्रक्रिया को वे ही देश दिशा-निर्देश देने की स्थिति में हागे जिन्होने सूचना प्रौद्योगिकी में आई क्रांति को महत्त्व दिया है।

भारत सरकार ने सूचना प्रौद्योगिकी को बढ़ावा देने के लिए कई प्रयास किए हैं। इनमें काफी महत्त्वपूर्ण हे 'मृचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2000', जो ई-कॉमर्स, इंटरनेट के माध्यम से इलेक्ट्रॉनिक संचार तथा अर्थव्यवस्था के क्षेत्र म आई टी के प्रवेश को आसान बनाएगा। उल्लेखनीय है कि सरकार ने ई-कॉमर्स के क्षेत्र में 100 प्रतिशत विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की मंजूरी दी है तथा इस प्रकार के लेन देन को कर-मुक्त रखा है।

ई-कॉमर्स को सूचना-क्रांति का महत्त्वपूर्ण अग माना जा रहा है। समय और दूरी की बाधाओ को मिटाकर व्यापार को सहज करने की इसकी वास्तविक शक्ति और क्षमता की अभी शुरुआत ही है।

प्रधानमत्री की विशेष कार्य योजना का एक महत्त्वपूर्ण एजेंडा भारत को सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सुपर पावर बनाने तथा अगले 10 वर्षों मे सॉफ्टवेयर के सबसे बड़े उत्पादक एवं निर्यातक देशो की सूची मे स्थान दिलाना है। इस दिशा में सरकार ने सूचना प्रौद्योगिकी तथा सॉफ्टवेयर विकास सबंधी राष्ट्रीय कार्यबल का गठन किया है। दूरसचार नीतियो तथा प्रक्रियाओं, साइबर कानूनो, आई टी उद्योग में श्रम कानूनों, वित्तीय मामलों, स्कूलों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में सूचना प्रौद्योगिकी को बढ़ावा देने तथा देश मे कंप्यूटर साक्षरता और कंप्यूटर की पहुँच को बढ़ावा देने संबधी कार्य-बल की 108 सिफारिशे पूर्ण रूप मे स्वीकृत कर ली गई हैं और अब उन्हे लागू किया जा रहा है।

अमेरिका ने वर्तमान में अपने सभी उद्योगों में 3 लाख से अधिक पेशेवरो की कमी की संभावना व्यक्त की है। भारतीय सॉफ्टवेयर प्रतिभाएँ अमेरिका मे उस माँग-आपूर्ति के अतर को पाटने में जुटी हैं।

अन्य देश भी हमारे कुशल पेशेवरों में दिलचस्पी दिखा रहे हैं। भारत ने जर्मन बाजारों के लिए 20,000 पेशेवर, ऑस्ट्रिया के लिए 15,000 तथा जापान के लिए 40,000 विशेषज्ञ उपलब्ध कराए हैं।

आई.टी. मे मानव ससाधन विकास को ध्यान में रखते हुए लंबी अवधि की नीति तैयार करने के लिए कार्य-बल का गठन किया गया है। कार्य-बल ने मौजूदा आई.आई.टी., क्षेत्रीय इंजीनियरिग कॉलेजों (आर ई सी.) तथा अन्य इंजीनियरिग

कॉलेजों एव शैक्षिक सस्थानों मे उपलब्ध संसाधनों के बेहतर इस्तेमाल के जरिये अगले शैक्षिक सत्र से उनमें छात्रों की संख्या दोगुनी करने तथा अगले 2 वर्षो में तिगुनी करने की योजना बनाई है।

भारतीय सॉफ्टवेयर पेशेवर स्वय को ग्लोबल ब्रांड के तौर पर स्थापित कर चुके है और उन्हें आई टी. के क्षेत्र में उच्चस्तरीय तथा भरोसेमंद रिआयती सेवा का प्रतीक माना जाता है। सुपरशक्ति बनने की भारत की आकांक्षा की राह मे ये सर्वाधिक उपयुक्त वाहन साबित हो सकते हैं। यह निश्चित तौर पर महत्त्वाकाक्षी प्रयास होगा, क्योंकि फिलहाल दुनिया भर में सॉफ्टवेयर से प्राप्त राजस्व का महज 2 5 प्रतिशत हिस्सा ही भारतीय सॉफ्टवेयर निर्यात की झोली मे आता है। यदि पिछले 5 वर्षो की ही तरह अगले 5 वर्षो में भी विकास-दर 50 प्रतिशत के आस-पास रही तो भारत का सॉफ्टवेयर निर्यात सन् 2005 मे दुनिया भर के सॉफ्टवेयर राजस्व का 6 प्रतिशत हो जाएगा और आगे भी उसकी स्थिति मजबूत होगी।

भारतीय सॉफ्टवेयर उद्योग हमारे आई टी. आयुध का महत्त्वपूर्ण बाण है। इस उद्योग ने देश-विदेश में अपनी स्थिति सुदृढ की है। इस क्षेत्र मे हाल में पूँजी निवेश की प्रवृत्ति भी देखी गई है।

भारत मे इन बदलावों के समानांतर ही डिजिटल प्रौद्योगिकी से उत्पन्न दीवारों की समस्या भी सिर उठाएगी। हालाँकि इस अंतर को पूरी तरह खत्म करना सभव नहीं होगा और अकेले सरकार इस काम को नहीं कर सकती, इसलिए आई.टी. विशेषज्ञों समेत समाज के सभी वर्गों को यह सुनिश्चित करना होगा कि डिजिटल-क्रांति के लाभ सभी तक पहुँचें। इस सिलसिले मे सरकार ने पूर्वोत्तर राज्यो के 486 ब्लॉक मे सामुदायिक सूचना केंद्र खोलने की परियोजना शुरू की हे। ये केद्र स्वास्थ्य, ऊर्जा, जल, शिक्षा और साक्षरता समेत गरीबी हटाने में भी मददगार होगे; लेकिन सूचना प्रौद्योगिकी की दृष्टि से इन पिछड़े राज्यो में अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

उधर कुछ राज्यों, जैसे—कर्नाटक में ई-गवर्नेस के लाभ दिखाई देने लगे हैं। केंद्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों के सभी मंत्रालयों और विभागो को आई.टी. एव इंटरनेट का अधिकाधिक इस्तेमाल करने के दिशा-निर्देश जारी किए जा चुके हैं, ताकि पारदर्शी प्रशासन का लाभ आम आदमी तक पहुँचे।

संचार और आई.टी क्षेत्र में विकास को बढ़ावा देने के उद्देश्य से हाल मे दूरगामी प्रभाववाले कई फैसले लिये गए हैं। अंतरराष्ट्रीय गेटवे स्थापित करने और विदेशी उपग्रहों से बैंडविड्थ किराए पर लेने के लिए इंटरनेट सर्विस प्रोवाइडर्स

(आई एस पी) को मजूरी दी गई है ताकि देश मे इटरनट का विस्तार सुनिश्चित हो सके। संचार के क्षेत्र में भारत संचार निगम लिमिटेड का गठन और राष्ट्रीय स्तर पर लंबी दूरी की प्रणाली को मुक्त करने एवं आई.एस डी खोले जाने से संचार तन्त्र सुदृढ होगा।

ढॉचागत तंत्र में सुधार के बाद आई टी आधारित सेवाओं के स्तर मे भी जबरदस्त वृद्धि होगी। मेडिकल ट्रांसक्रिप्शन, कॉल सेंटर्स तथा ऐसे ही अन्य विकल्प देश भर में रोजगार के अनेक अवसरों को जुटाने के अलावा भारतीय साक्षर महिलाओं को घर से कार्य संचालित करने के मौके उपलब्ध कराएँगे।

अब हमें आई.टी. क्रांति को अगले दौर में ले जाने की जरूरत है। इस क्षेत्र के लाभ से 100 प्रतिशत, अधिक रोजगार, उद्यमशीलता तथा आर्थिक विकास को बढ़ावा देने की आवश्यकता है।

[1. आर्थिक संपादकों के सम्मेलन मे भाषण, 17 अक्तूबर, 2000, 2. आई टी. डॉट कॉम 2000, बंगलौर मे भाषण, 1 नवबर, 2000।]

□

आर्थिक विकास का वित्त-पोषण

—सी. रंगराजन

नई आर्थिक नीति के पहलू

आजाद भारत की अर्थव्यवस्था के इतिहास में सन् 1991 को 'मील का पत्थर' कहा जा सकता है। उस समय देश मे भुगतान-सतुलन की बिगड़ी हुई स्थिति के कारण भीषण आर्थिक सकट पैदा हो गया था। इस संकट को अवसर मे बदलकर आर्थिक नीति में कुछ मूलभूत परिवर्तन किए गए। शुरुआती वर्षों में सुधार की प्रक्रिया तेज थी, लेकिन बाद मे यह मद पड़ गई। वैसे इतना जरूर है कि विभिन्न सरकारों के साये में आर्थिक नीति मे निरंतरता बनी हुई है।

जुलाई 1991 के बाद से जो आर्थिक कदम उठाए गए, उनमें एक साझा सूत्र तलाशा जा सकता है। इन सभी कदमों का उद्देश्य उत्पादकता मे सुधार करना और व्यवस्था को कार्यकुशल बनाना रहा है। तरह-तरह के नियंत्रणों से लैस नियमन व्यवस्था से निजी क्षेत्र तक की प्रतिस्पर्धी क्षमता बिखरकर रह गई थी। नई आर्थिक नीति का जोर अड़चनें हटाकर प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देना और कपनियों का विकास सुनिश्चित करना रहा। औद्योगिक नीति में परिवर्तन घरेलू प्रतिस्पर्धा का वातावरण बनाने के लिए किए गए, जबकि व्यापार नीति में किए गए परिवर्तनो का उद्देश्य घटते हुए शुल्क-दरों के वातावरण में अंतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देना रहा। निजी क्षेत्र को कदम बढ़ाने के लिए अधिक अवसर दिए गए और कुछ ऐसे क्षेत्रो को भी निजी क्षेत्र के लिए खोला गया, जो कभी सार्वजनिक क्षेत्र की बपौती हुआ करते थे। इन क्षेत्रो मे सार्वजनिक और निजी क्षेत्र को एक-दूसरे से होड़ लेने की स्थितियाँ पैदा कर दी गईं। इन सब उपायो का उद्देश्य विभिन्न निकायो की कार्यकुशलता में सुधार करना और प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देना रहा। इस व्यवस्था में सरकार की भूमिका गौण नहीं हो जाती। हाँ, यह भूमिका नए सिरे से तय जरूर होती है। यह भूमिका कुछ क्षेत्रों में फैलेगी और कुछ में सिमटेगी। समानता और कार्यकुशलता

का कोई बर नहा होता से ही समानता क लिए मागा का पूर्ति हो सकेगी।

उदारीकरण के बाद की स्थिति

अगर विशुद्ध रूप से भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास-दर के हिसाब से देखा जाए तो सुधारो के बाद हमारी अर्थव्यवस्था ने अच्छा प्रदर्शन किया है। हाल ही मे केंद्रीय सांख्यिकी सगठन ने कहा है कि सन् 1998-99 मे हमारी विकास-दर 6 के बजाय 6 8 प्रतिशत रही। अगर सन् 1992 से 1999 के बीच का औसत देखा जाए तो विकास-दर 6 55 प्रतिशत थी, जबकि सन् 1985 से 1990 के बीच विकास-दर 6 04 प्रतिशत रही थी, लेकिन यह भी सच है कि सिर्फ विकास-दर को ही किसी अर्थव्यवस्था की मजबूती का मापदड नहीं माना जा सकता। विकास का तौर तरीका भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है। फिर भी गणित कहता है कि आर्थिक विकास की दर 7 प्रतिशत होनी चाहिए। अगर श्रमशक्ति को समाहित करना है और बेरोजगारी कम करनी है तो यह दर हासिल करना जरूरी है। आजादी पाने के बाद शुरू के वर्षो मे बचत-दर कम होना आर्थिक विकास-दर एक बड़ी अड़चन थी। इस तंगी पर बहुत हद तक काबू पा लिया गया है। पचास के दशक के शुरू में बचत-दर 10 प्रतिशत थी। हाल के वर्षो मे अर्थव्यवस्था मे बचत-दर 25 से 26 प्रतिशत के बीच चल रही है। अगर हम उसमे सकल घरेलू उत्पाद का 2 प्रतिशत चालू घाटा जोड़ दें तो 7 प्रतिशत विकास-दर का लक्ष्य असभव नही लगता। ऐसे मे प्रयास इस बात के होने चाहिए कि विकास-दर धीरे-धीरे ही सही, मगर निरंतर बढे। सच यह है कि अगर 7 प्रतिशत विकास-दर का लक्ष्य आसान ढग स हासिल करना है तो हमें बचत-दर बढ़ानी होगी।

वित्त-पोषण

बचत-दर के ताजा आँकड़ों के अनुसार सन् 1998-99 में यह दर 22 3 प्रतिशत रही, जबकि इसके पिछले साल यह 24.7 प्रतिशत थी। घरेलू बचत, निजी क्षेत्र की बचत और सार्वजनिक क्षेत्र की बचत—तीनो में ही यह गिरावट दर्ज की गई। सबसे ज्यादा 1.4 प्रतिशत गिरावट सार्वजनिक क्षेत्र में आई। तीनों ही क्षेत्रों में बचत-दर बढ़ना जरूरी है; लेकिन राजस्व घाटे की भरपाई के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की बचत-दर विशेष रूप से बढाई जानी चाहिए। आर्थिक विकास-दर को मजबूत बनाने में एकीकृत वित्तीय संरचना की भूमिका सर्वमान्य है। वित्तीय संस्थाओं का

मजबूत ढाँचा हो तो अर्थव्यवस्था मे बचत को बढावा मिलता है। उपलब्ध संसाधनो का बेहतर इस्तेमाल भी इससे सुनिश्चित होता है। बुनियादी क्षेत्र से फायदे मिलना इस बात पर निर्भर है कि वित्तीय व्यवस्था कारगर हो।

कारगर नियमन

हाल के वर्षो में वित्तव्यवस्था की मजबूती और सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया है। वास्तविकता यह है कि इस बारे मे औद्योगिक देशो मे चिताएँ अस्सी के दशक मे उभरी थीं, जब वित्तीय बाजारो का भूमंडलीकरण तेजी से हो रहा था। प्रतिस्पर्धा बढने से मुनाफा तेजी से घट रहा था। इस संदर्भ में बैंक फॉर इटरनेशनल सेटलमेंट्स ने महसूस किया कि विभिन्न देशों में बैंकों को अतरराष्ट्रीय स्तर पर समुचित नियम स्वीकार करना चाहिए। मूलभूत नियम सन् 1988 मे लागू किए गए। तब से इन मानको में सुधार हुए है और नए सिरे से पारिभाषित भी किए गए है। हाल के पूर्वी एशियाई संकट से भी यह बात सामने आई कि कमजोर वित्त-व्यवस्था किस तरह विकास-दर पर आँच ला सकती है। सच यह है कि जब अर्थव्यवस्था तेजी से बढ़ रही हो तो व्यवस्था की कई खामियाँ छिप जाया करती है, लेकिन जब अर्थव्यवस्था फिसलने लगती है तो ये खामियाँ न सिर्फ उजागर होती है, बल्कि विकराल भी हो जाती हैं। ऐसे मे यह जरूरी है कि बैको, वित्तीय संस्थाओं और पूँजी बाजारो का नियमन पारदर्शी ढंग से किया जाए। दरअसल, चार आधारभूत चिंताओ के कारण वित्तीय संस्थानों के नियमन की जरूरत महसूस होती है—(1) जमाकर्ता उपभोक्ता और निवेशक का संरक्षण, (2) बाजार की संरचना और प्रतिस्पर्धा का चरित्र, (3) सुरक्षा तथा मजबूती और (4) व्यवस्थागत स्थिरता। चुनौती यह है कि एक ऐसी नियमन व्यवस्था कायम की जाए, जिससे ये चारो उद्देश्य पूरे होते हो। पिछले 7 वर्षो से जो वित्तीय क्षेत्र मे सुधार किए गए हैं, उनकी धुरी यही सिद्धांत रहे हैं।

समुचित नियमों की जरूरत का महत्त्व भलीभाँति समझा गया है। निरीक्षण व्यवस्था को वित्तीय संस्थाओं पर नजर रखनी चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि ये संस्थाएँ नियमो के मुताबिक काम कर रही हैं। बैंकों और वित्तीय संस्थाओ को अलग से जोखिम प्रबंधन व्यवस्था भी कायम करनी चाहिए, ताकि वे ऋण-संबंधी मामलों से जुड़े विभिन्न जोखिमों को भाँप सकें और समुचित कदम उठा सकें। भारतीय रिजर्व बैंक सहित सेंट्रल बैंको ने जोखिम-प्रबंधन के बारे मे दिशा-निर्देश भी जारी किए हैं।

पूँजी बाजार के स्रोत

औद्योगिक और सेवाक्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ ऋण ही नहीं, बल्कि इक्विटी की भी जरूरतें बढ़ेंगी। बैंकों का इक्विटी में निवेश सीमित है, जो जायज भी है। अगर सन् 1992-93 के बाद से निवेश में तेजी से विस्तार हुआ तो इसका प्रमुख कारण था प्राथमिक बाजार की गतिशीलता। गैर-सरकारी पब्लिक लिमिटेड कंपनियों के नए कैपिटल इश्यू सन् 1890 मे 164 करोड़ रुपए के थे, जो बढते-बढते सन 1989 में 3,225 करोड़ रुपए के आँकड़े पर पहुँच गए। फिर सन् 1991-92 में इसमें तेजी से वृद्धि हुई और यह राशि 6,200 करोड रुपए तक पहुँच गई। इसके बाद के 4 वर्षो में तेजी का दौर चलता रहा, लेकिन फिर गिरावट आनी शुरू हो गई। कपनियाँ विलुप्त होने लगी और कंपनी क्षेत्र अपने वायदे पूरे नहीं कर पाया। व्यक्तिगत निवेशक बाजार से भागने लगे। एक समय ऐसा भी आया, जब सन् 1997-98 में कुल पूंजी-उगाही महज 3,100 करोड रुपए की हुई। इसके बाद के 2 वर्षो में कुछ बढोतरी हुई है, लेकिन जितनी उगाही हो रही है, वह उस राशि के नजदीक नहीं है, जो कभी सन् 1989-90 मे थी। इसकी वजह से पूँजी बाजार के नियमन की दिशा में कदम उठाने के लिए बाध्य होना पडा। हमे प्रतिभूति बाजारों के लिए यह सुनिश्चित करने की जरूरत है कि प्रतिभूनि उद्योग के लोग मुक्त और निष्पक्ष वातावरण में काम करें, ताकि वे अपने ग्राहकों के साथ न्याय कर सकें।

कपनी क्षेत्र को अपने बारे में पूरी सूचना जनता को देनी चाहिए, ताकि निवेशक बुद्धिमानी से अपने निवेश के फैसले ले पाएँ। कंपनियों के लिए पूँजी-बाजार वित्त का प्रमुख स्रोत है। यह तर्क दिया जाता है कि दक्षिण कोरिया मे ऋण इक्विटी अनुपात बेहद ऊँचा था। घरेलू बचत बैंकों में जमा हुई जिसका अधिकतर भाग कपनियो को ऋण के रूप में मिल गया, लेकिन ऋण इक्विटी अनुपात बेहद अधिक होने के भी अपने खतरे हैं। कंपनी क्षेत्र को धन देने में विकास वित्त सस्थाओं ने हमारे देश में अहम भूमिका निभाई है। जर्मनी जैसे देशो में, जहाँ पूँजी बाजार पर निर्भरता अन्य औद्योगिक देशो के मुकाबले कम है, बैंकों का इक्विटी मे निवेश काफी अधिक रहा है। अस्सी के दशक के शुरू में और नब्बे के दशक मे भारतीय कपनियों ने लंबी अवधि के वित्त हासिल करने के लिए पूँजी बाजार की ओर रुख किया। पूँजी बाजार और खास तौर से प्राथमिक शेयर बाजार का समुचित विकास कंपनियों के लिए विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब तक पूँजी बाजार मजबूती और लचीलापन प्राप्त नहीं करता, तब तक वित्तीय संस्थाओं की

अहम भूमिका रहेगी। कंपनी क्षेत्र जब बेहतर प्रदर्शन करेगा और अपने वायदों को पूरा करते हुए निवेशकों का विश्वास हासिल करेगा, तभी पूँजी बाजार फूलेगा-फलेगा। इस लिहाज से देखें तो जिम्मेदारी कंपनी क्षेत्र के कंधों पर है। इस समय हमें पूँजी बाजार और वित्तीय संस्थाओं के संतुलित विकास की आवश्यकता है, ताकि कंपनी क्षेत्र की लंबी अवधि की वित्तीय जरूरतें पूरी हो सकें।

नए वित्तीय उत्पाद

वित्तीय माँग की नई-नई जरूरतें पैदा हो रही हैं। ढाँचागत क्षेत्र विकास का मुख्य क्षेत्र है। परियोजनाएँ चाहे बिजली की हों या दूरसंचार की, इन सभी की वित्तीय आवश्यकताएँ हैं। अभी तक इस क्षेत्र का ज्यादातर खर्च सरकार उठाती रही है। अब यह जिम्मेदारी धीरे-धीरे निजी क्षेत्र की ओर खिसक रही है। इसके लिए नए प्रकार के वित्तीय उत्पादों की जरूरत है। कई वित्तीय संस्थाएँ लंबी अवधि के ऋण देने के लिए तैयार नहीं हैं, क्योंकि उनकी देनदारियाँ या जमा पूँजी कम अवधिवाली हैं। ऐसे में कर्ज लेनेवालों के लिए ऋण राशि बढ़ाना जरूरी है। इसके अलावा पेंशन बीमा और भविष्यनिधि आदि दीर्घावधि के वित्त स्रोत विकसित करने होंगे। ढाँचागत विकास की दृष्टि से बांड बाजार की भूमिका भी अहम है।

बाहरी सहायता

पिछले 7 वर्षों में विदेशी निवेश नीति में भारी बदलाव आए हैं। इस दिशा में दृष्टिकोण सकारात्मक और दूरदर्शी हुआ है। विदेशी निवेश नीति में किए गए परिवर्तनों से भारत के भुगतान-संतुलन की दृष्टि से पूँजी खाते में कई महत्त्वपूर्ण बदलाव आए। नब्बे के दशक में इन परिवर्तनों से देश में बिना कर्जवाले धन की आवक हुई और 50 प्रतिशत तक पूँजी-प्रवाह ऐसा था, जिसकी अदायगी नहीं करनी थी। विकसित होती अर्थव्यवस्था में पूँजी-आवक का स्वागत किया जाता है। इससे बाहरी दबाव कम होते हैं और उच्च विकास-दर प्राप्त होती है। ऐसे निवेश टेक्नोलॉजी हस्तांतरण और प्रबंधन-कौशल को भी साथ लेकर आते हैं।

पूँजी-आवक के बारे में पूर्वी एशियाई संकट ने कुछ आशंकाएँ पैदा की हैं। एक तरह से देखा जाए तो पूँजी-प्रवाह दुधारी तलवार की तरह है। जब पूँजी आती है तो निवेश योग्य संसाधन और विकास में तेजी से वृद्धि होती है, लेकिन पूँजी जब जानी शुरू होती है तो यह सामाजिक और आर्थिक परिदृश्य को गहरी चोट पहुँचा सकती है, लेकिन पूर्वी एशियाई संकट शुरू होने से पहले पूँजी आने से उन देशों

बीसवीं सदी के अंत में भारतीय अर्थव्यवस्था का संरचनात्मक बदलाव और भविष्य की संभावनाएँ

—उमा कपिला

भारतीय अर्थव्यवस्था में अस्सी के दशक के मुकाबले उल्लेखनीय संरचनात्मक परिवर्तन हुए। सुधारों की प्रक्रिया सन् 1991 में शुरू होने के बाद से सकल घरेलू उत्पाद के क्षेत्रगत अनुपात में भी भारी बदलाव आया है। जी.डी पी मे योगदान के हिसाब से सेवा-क्षेत्र ने प्रमुखता हासिल कर ली है। यह योगदान बढने से अर्थव्यवस्था मे कई प्रभाव दिखाई दिए और इस व्यवस्था मे काफी लचीलापन भी आया।

सकल घरेलू उत्पाद मे कृषि और संबद्ध क्षेत्रों का अंशदान सन् 1992-93 के 34.5 प्रतिशत से घटकर 27 5 प्रतिशत रह गया। दूसरी ओर उद्योगो का हिस्सा 23 2 प्रतिशत से बढ़कर 25.9 प्रतिशत और सेवा-क्षेत्र का हिस्सा 42 2 प्रतिशत से बढकर 46 6 प्रतिशत हो गया। नवीन राष्ट्रीय ऑकडो के अनुसार सेवा-क्षेत्र का योगदान सन् 1993 94 से सन् 1998-99 के बीच 51.1 प्रतिशत रहा।

मुद्रा और वित्तीय स्थिति पर भारतीय रिजर्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार सकल घरेलू उत्पाद मे अंशदान का यह बदलाव सेवा-क्षेत्र मे सन् 1992-93 से सन् 1997-98 के बीच 8 4 प्रतिशत वृद्धि-दर के कारण हुआ। यह वृद्धि-दर सन् 1980 से 1990 के बीच 6 5 प्रतिशत ही थी। सेवा-क्षेत्र का हिस्सा विकास के साथ बढ़ने को देखते हुए दूसरे देशों के अनुभव से समझा जा सकता है, लेकिन अभी यह स्पष्ट नही है कि नब्बे के दशक मे नीतिगत परिवर्तनो का कितना योगदान इस दिशा में रहा है।

मानसून बेहतर होने के बावजूद नब्बे के दशक में कृषि क्षेत्र में गिरावट आई है। सिचाई का क्षेत्र बढ़ने के बावजूद यह स्थिति देखने को मिली है। संभवत सार्वजनिक निवेश मे गिरावट और नई टेक्नॉलॉजी का इस्तेमाल नहीं होना इसका कारण रहा होगा।

लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था ने नब्बे के दशक में उच्च विकास-दर हासिल करने का क्रम जारी रखा। मिसाल के तौर पर सन् 1995-96 मे 8.6 प्रतिशत विकास-दर हासिल की गई। इस अवधि में कृषि-क्षेत्र ने नगण्य (0.2 प्रतिशत की) वृद्धि-दर ही प्राप्त की थी। रिजर्व बैंक की रिपोर्ट मे कहा गया है कि कृषि-क्षेत्र के झटकों को सेवा-क्षेत्र की प्रगति ने झेला है।

सेवा-क्षेत्र में अत्यधिक विस्तार

इस तरह देखा जाए तो आर्थिक विकास अब कृषि और मानसून की निर्भरता से हट रहा है। विकास-दर में सुधार उद्योग और सेवा-क्षेत्र पर निर्भर हो रहा है, लेकिन औद्योगिक क्षेत्र में भी निर्माण-क्षेत्र ने विकास में योगदान अधिक किया जबकि खनन, बिजली, जलापूर्ति आदि क्षेत्रों में वृद्धि-दर कम रही। दूसरी ओर सेवा-क्षेत्र में व्यापार, होटल, रेस्तराँ, भडारण और संचार के क्षेत्र में वृद्धि दर में निरंतरता देखी गई, लेकिन वित्त, बीमा और व्यावसायिक सेवा-क्षेत्र मे उच्च वृद्धि-दर दर्ज की गई। शायद इसका कारण यह हो सकता है कि सेवा-क्षेत्र में उन्हीं सेवाओं का अधिक विकास हुआ, जिनका सरोकार उद्योगो से था।

इस लिहाज से भारतीय अर्थव्यवस्था के अनुभव विकसित देशों से भिन्न रहे, क्योंकि हमारे सेवा-क्षेत्र का योगदान अपेक्षाकृत कम समय में कृषि और उद्योगों के अंशदान से आगे निकल गया। दूसरे शब्दों मे कहें तो अर्थव्यवस्था ने कृषि से जुड़े निम्न गुणवत्ता के स्तर से ऊँची छलॉग लगाई और सेवा-क्षेत्र से जुड़े उच्च गुणवत्ता स्तर की ओर रुख किया। भारत का यह सकारात्मक अनुभव एक बडे फायदे के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि विकास की दौड में उसने देरी से होड लेना शुरू किया था, यानी भारतीय अर्थव्यवस्था को टेक्नॉलॉजी में सुधार के साथ वृद्धि प्रक्रिया की लंबी डगर पर नहीं चलना पड़ा।

सेवा-क्षेत्र में विस्तार के अर्थव्यवस्था के कई पहलुओं, मसलन, उत्पादन रोजगार और व्यापारिक सभावनाओ की दृष्टि से फायदे सामने आएँगे—

1 सेवा-क्षेत्र के विकास के साथ इस बात की जरूरत है कि इस क्षेत्र मे प्रतिस्पर्धा और कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए नीतिगत प्रयास किए जाएँ,

तालिका 1
जी.डी.पी. के उत्पाद मूल्य का क्षेत्रवार संयोजन और औसत

क्षेत्र	1980-81 मूल्य		1993-94 मूल्य
	अवधि I 1980-81 से 1990-91	अवधि II ए 1992-93 से 1997-96	अवधि II बी 1993-94 से 1998-99
1. कृषि एवं संबद्ध क्षेत्र	**34.5**	**27.5**	**28.2**
	(4.5)	**(3.0)**	**(4.3)**
1 1 कृषि	31 8	26.2	26.1
	(4 8)	(4 1)	-
2 उद्योग	**23.2**	**25.9**	**21.8**
	(7.2)	**(8.1)**	**(8.2)**
2 1 खनन एव खुदाई	1 8	1.8	2.4
	(8 8)	(3.5)	(3.7)
2 2 विनिर्माण	19.5	21 5	17.0
	(6 9)	(8 6)	(9 0)
2 3 विद्युत, गेस एव जल आपूर्ति	2.0	2.5	2 4
	(8.5)	(7 2)	(6 9)
3 सेवाएँ	**42.2**	**46.6**	**50.1**
	(6.2)	**(7.7)**	**(7.8)**
3 1 होटल, रेस्टोरेंट, परिवहन, भंडारण एव संचार	17.4	19 3	22.7
	(6.3)	(8 6)	(9 1)
3 2 वित्त, बीमा, भू-संपत्ति एवं व्यावसायिक सेवा	9 4	11 9	11 2
	(6 8)	(8 7)	(7 3)
3.3 समुदाय सामाजिक एवं व्यक्तिगत सेवाएँ	10.8	10 9	11 4
	(6 0)	(6 5)	(7 3)
3 4 निर्माण	4.6	4 4	4 8
	(5.7)	(4.8)	(4 5)
जी.डी.पी.	**100.0**	**100.0**	**100.0**
	(5.8)	**(6.5)**	**(6.8)**

नोट - कोष्ठक मे दिए गए आंकड़े विकास दर के हैं।

स्रोत . वित्त एव मुद्रा पर भारतीय रिजर्व बैंक की रिपोर्ट (1998-99)।

ताकि निर्यात मे इस क्षेत्र का योगदान सुनिश्चित किया जा सके।

2. टेक्नॉलॉजी के क्षेत्र मे प्रगति और नए उपायो के कारण कृषि तथा उद्योग की उत्पादकता बढने के साथ-साथ रोजगार के अवसर गैर-सेवा-क्षेत्र के बजाय सेवा-क्षेत्र में बढेगे। इससे वस्तुओ पर खर्च का हिस्सा घटकर मूल्यवर्धित सेवाओं मे ज्यादा हो सकता है।
3. सेवा-क्षेत्र का व्यापक कर-आधार हो सकता है, जिसका दोहन नही किया गया है। इस दृष्टि से सेवा-क्षेत्र के विकास की राजकोषीय नीतियों पर दीर्घकालिक प्रभाव हो सकते हैं।

उद्योग जगत् में संरचनात्मक बदलाव

पिछले तीन दशको में उद्योग जगत् ने अपनी विकास-दर अथवा सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी) मे अपने योगदान की दृष्टि से किसी खास प्रवृत्ति को नही दरशाया है। सत्तर के दशक में औद्योगिक उत्पादन की औसत वार्षिक विकास-दर 4 4 प्रतिशत थी और अस्सी के दशक में यह 7 2 प्रतिशत रही। सन् 1980-81 के दौरान यह ऑकड़ा (न्यूनतम 1.4 प्रतिशत और सन् 1989-90 में अधिकतम 11 2 प्रतिशत दर्ज किया गया) अलबत्ता, नौवे दशक में इसमे काफी उतार-चढाव देखे गए और पहले 2 वर्षो मे 11 2 तथा 12 9 प्रतिशत रहने के बाद सन् 1991-92 में यह लुढ़ककर 1 9 प्रतिशत तक पहुँच गया, लेकिन बाद के वर्षो में यह 6 प्रतिशत से अधिक रहा। नब्बे के दशक में (1998-99 तक) औसत वार्षिक विकास-दर 6 6 प्रतिशत रही। सन् 1970 मे जी.डी.पी मे उद्योग क्षेत्र की हिस्सेदारी 18 6 प्रतिशत से बढकर सन् 1995-96 में 27 प्रतिशत हो गई, मगर अगले ही वर्ष (1996-97) में यह गिरकर 22 प्रतिशत रह गई।

औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक की दृष्टि से देखें तो सन् 1991-92 से सन् 1998-99 तक उत्पादन की विकास-दर धीमी रही। इस अवधि में औद्योगिक क्षेत्र में व्यापक सुधार किए गए।

औद्योगिक उत्पादन के सामान्य सूचकाक में विभिन्न क्षेत्रो के सापेक्ष योगदान मे बदलाव भी संरचनात्मक परिवर्तनो के एक अन्य पहलू को उजागर करता है। निर्माण क्षेत्र का सापेक्ष योगदान अस्सी के दशक में 70 प्रतिशत से बढ़कर नौवें दशक में 81 6 प्रतिशत तक जा पहुँचा। अलबत्ता, खनन आदि में काफी गिरावट आई।

नौवें दशक में बुनियादी तथा पूँजीगत वस्तुओं के क्षेत्र के सापेक्ष योगदान में कमी आई, परतु मध्यवर्ती और उपभोक्ता सामान से जुड़े क्षेत्र में बढ़ोतरी दर्ज की

गई। नई शृखला मे (आधार : 1993-94 = 100) बुनियादी तथा पूंजीगत वस्तुओ से जुडे क्षेत्रो के वजन में गिरावट आई, वहीं मध्यवर्ती और उपभोक्ता सामान-सबधी क्षेत्रों में वृद्धि देखी गई।

तालिका-2

विभिन्न क्षेत्रों का औद्योगिक उत्पादन में तुलनात्मक योगदान

प्रतिशत

	क्षेत्र	1981-82 से 1990-91 (औसत)	1992-93 से 1998-99* (औसत)
1	निर्माण	70 0	81 6
2	विद्युत्	14.4	14 4
3	खनन तथा खुदाई	15.6	4 0
	सामान्य सूचकांक	100.0	100 0

नौवे दशक के दौरान संपूर्ण औद्योगिक उत्पादन में बुनियादी तथा पूँजीगत वस्तुओं के क्षेत्रों के अपेक्षाकृत कम योगदान का कारण अन्य कारणों के अलावा श्रम उदारीकरण, विशेषकर आयात तथा वित्तीय उदारीकरण का प्रभाव रहा।

हाल के वर्षो में भारतीय कॉरपोरेट जगत् की पुनर्सरचना के लिए मुख्य रूप से अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक माहौल जिम्मेदार है। नब्बे के दशक के शुरुआती वर्षो मे आरभ किए गए संरचनात्मक सुधारों ने भारतीय उद्योग को अधिक कारगर नीतियॉ अपनाने, गौण गतिविधियाँ बंद करने तथा विलयन और अधिग्रहण के लिए प्रेरित किया।

हाल की अवधि में तो विलयन, अधिग्रहण आदि नीतियॉ विकास की तेज रफ्तार हासिल करने के लिए अपनाई जाती रही हैं। इस संदर्भ में निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रो को अंतरराष्ट्रीय चुनौती के रूप में उभरने तथा घरेलू बाजार मे भी अपने प्रदर्शन के सापेक्ष स्तरों को बनाए रखने के लिए पुनर्सरचना की प्रक्रिया से गुजरना जरूरी है।

सन् 1991 में आर्थिक सुधारों का दौर शुरू होने के बाद से अर्थव्यवस्था के विकास की प्रक्रिया में निस्संदेह तेजी आई है। अर्थव्यवस्था तभी से तेज विकास के पथ पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ रही है और एक दशक से कम अवधि में ही

* इस अवधि मे उत्पादन लगभग स्थिर होने के कारण सन् 1991-92 से संबंधित आँकडों को शामिल नहीं किया गया है।

बृहद्-आर्थिक संकेतकों के मद्देनजर बदलाव दर्ज किए गए हैं, लेकिन साथ ही नौवें दशक ने कई चुनौतियाँ भी पेश की है। जैसाकि भारतीय रिजर्व बैंक की रिपोर्ट में कहा गया है कि राजकोषीय घाटे को नियत्रण में रखने के साथ-साथ घरलू मौद्रिक प्रबंधन तथा विनिमय दरों के मद्देनजर पूँजी-प्रवाह को बढ़ावा देने के लिए नीतियाँ बनाने तथा कानूनी व संस्थागत सुधारों के लिए नीतियाँ तय करने और आधुनिक प्रौद्योगिकी अपनाने की जरूरत है।

□

भारतीय रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति और बैंकिंग क्षेत्र के सुधार

—एस.एस. तारापुर

भारतीय रिजर्व बैंक ने अपनी यह नीति दोहराई है कि जहाँ तक परिस्थितियाँ साथ देंगी, उस हद तक ब्याज-दरों को लचीला बनाया जाएगा। साथ ही उसने बैंकों की ब्याज-दरों को लेकर ऊहापोह की स्थिति को भी स्पष्ट किया है। ब्याज-दरों के मामले मे फैसले अनुदान लागत, लेन-देन लागत और गैर-बैंकिंग क्षेत्र की ब्याज-दरों के आधार पर स्वय बैंकों को ही लेने हैं। हालाँकि एकल ब्याज-दर या बैंकों के लिए रिजर्व बैंक का कोई आदेश उद्योगो में निराशाजनक हो सकता है, लेकिन रिजर्व बैंक ने बहुत विस्तार से उन बंदिशों का जिक्र किया है, जिनके तहत बैंक काम करते हैं। बैंकों में जमा राशि पर औसत लागत 8 प्रतिशत है और 2 5 से 3 प्रतिशत लागत गैर-ब्याज वाली गतिविधियों पर आती है। ऐसे में 10 प्रतिशत का कैश रिजर्व देशों के बैंकिंग उद्योग पर बहुत बड़ा बोझ है और अचल संपत्ति से भी सिस्टम पर दबाव है। इस स्थिति मे ऋण-दरों को घटाना बहुत मुश्किल लगता है, जो प्रमुख बैंको के मामले में 12 से 12.5 प्रतिशत है। ऋण दरो को घटाने का सीधा असर जमा राशि की दरों पर पड़ेगा। सरकार के बचत-उपकरणों पर अच्छा ब्याज मिलता है और म्यूचुअल फंडों पर आकर्षक कर-रिआयतें मिल रही हैं। अगर जमा पर ब्याज-दर घटाई गई तो निकासी बढने की आशका है। सरकार के निरतर बढते उधारी कार्यक्रम से भी ब्याज-दर ढाँचे पर दबाव बढ़ता जा रहा है। लिहाजा ऋण-दरो में बहुप्रतीक्षित कटौती निकट भविष्य में मुमकिन नहीं लगती।

मौद्रिक नीति की घोषणा से पहले प्रमुख बैंकों के अध्ययनों और शीर्ष सलाहकारों ने कैश रिजर्व देशों (सी.आर.आर) मे कटौती के खिलाफ तर्क दिए थे। उनका कहना था कि लिक्विडिटी का अभाव नहीं है। यह तर्क अजीबो-गरीब

लगता है। चूँकि सी आर आर. बैंकों पर एक तरह का टैक्स है, इसलिए बैक इसमे कटौती होने का स्वागत ही करेंगे। सी.आर आर 10 से घटाकर 9 प्रतिशत करने और 10 प्रतिशत का चक्रवृद्धि सी आर आर. समाप्त करने से 8,000 करोड रुपए जारी होगे और अगर इसका 10 प्रतिशत हिस्सा भी बैंकों ने मुनाफे के काम पर लगाया तो उन्हें प्रतिवर्ष 480 करोड़ रुपए की आमदनी होगी।

बैंकों को इस बात की आशंका होगी कि उन्हें ऋण-दरें घटानी पड़ सकती है, लेकिन इसकी गुंजाइश भी नहीं है। उद्योगो को यह समझना चाहिए कि ब्याज मे मामूली कमी से कहीं ज्यादा अहम बात यह है कि कर्ज की उपलब्धता बनी रहे।

बैंकों का ब्याज-दर ढॉचा क्या है, इसपर गौर करने की जरूरन है। बैंको मे अधिकतम जमा राशि पर ब्याज 10 5 प्रतिशत होना चाहिए और प्रमुख ऋण ब्याज-दर 12.5 प्रतिशत। फिलहाल बैंक-दरें 8 प्रतिशत हैं, जो बहुत कम हैं। इसमे कटौती नही की जा सकती। सी आर आर. घटाने का फायदा यह है कि ब्याज-दरो पर इसका असर बाजार के माध्यम से होगा और इससे ब्याज-दरों मे उतार-चढाव होते रहने की आशंका नही है।

छह महीने से एक साल तक की एफ सी.एन. आर (बी) जमा पर न्यूनतम मैच्योरिटी बढ़ाना बहुत अच्छा कदम है, लेकिन इस जमा पर सी आर.आर पूरी तरह समाप्त कर देना दुर्भाग्यपूर्ण है। सन् 1995-96 में इसे समाप्त किया गया था, जब विनियम-दरों पर दबाव था, लेकिन सन् 1997 में इसे फिर लागू कर दिया गया। बाहरी अदायगी की स्थिति संतोषजनक होने के बावजूद इन जमा राशियो पर समाप्त करने का औचित्य स्पष्ट नहीं है। फिर यह भी देखना चाहिए कि अगर विनियम-दरो पर दबाव आया तो सरकार क्या कदम उठाएगी।

रिजर्व बैंक ने मुद्रा और प्रतिभूति बाजार की मजबूती के लिए कुछ कदम उठाए हैं; लेकिन सेबी और रिजर्व बैंक की खींचतान और कर-ढाँचे से स्थिति बैंको के विपरीत हो गई है। यह भी हैरत की बात है कि बैंकों ने इस बारे मे शिकायत नहीं की है। बैंकिंग प्रणाली में असमानता से गभीर स्थिति पैदा हो सकती है। यह बहुत बड़ी असमानता है कि बैंकों से मिलनेवाले मामूली ब्याज पर टेक्स लगाया जाए और म्यूचुअल फंडों से होनेवाली असीमित आय को टैक्स से मुक्त रखा जाए।

उद्योगों को इस बात से निराशा होना स्वाभाविक है कि रिजर्व बैंक ने ऋण दरें कम करने के लिए बैंकों पर दबाव नहीं डाला, लेकिन उद्योगों को इस बात की प्रशंसा करनी चाहिए कि उनके लिए पूरा वित्तीय परिदृश्य बदल गया है। भारत के

कपनी क्षेत्र ने बैंकों के पैसे से अपनी निर्भरता कम की है। अब प्रश्न यह है कि बैंको की ऋण-दरों का भविष्य का ढाँचा क्या होगा? अतीत के अनुभवों से पता चलता है कि जब कभी निजी क्षेत्र ने निचली दरों पर सीधे संसाधन जुटाने शुरू किए तब-तब प्रमुख ऋण-दरें कम हुई है। फिर भी तुरुप का पत्ता हमेशा सरकारी उधारी पर दिया जानावाला ब्याज ही रहेगा, क्योंकि इससे कम तो प्रमुख ब्याज दरे होने से रहीं।

संक्षेप में कहे तो मौद्रिक और ऋण-नीति के बारे में जो उपाय किए गए हैं, वे उद्योग के लिए फायदेमंद साबित होंगे।

मौद्रिक प्रबंधन के दीर्घकालीन मुद्दे

भारतीय वित्तीय व्यवस्था का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पहलू यह है कि मौद्रिक नीति की भूमिका को ठीक से नहीं समझा गया। इसकी समझ के बारे में अस्पष्टता अध्येता समुदाय से लेकर मौद्रिक नीति बनानेवालों तक और सरकार से लेकर मीडिया तक झलकती है। मौद्रिक नीति की बात कोई करता है तो उसे 'मुद्रावादी' करार दे दिया जाता है और उसपर हमले शुरू हो जाते हैं।

मौद्रिक नीति का मूल उद्देश्य मुद्रास्फीति को अल्पकाल और दीर्घकाल के लिए अंकुश मे रखना होता है। अर्थव्यवस्था की वास्तविक विकास-दर और आय के वितरण में भी इसकी भूमिका होती है। मौद्रिक नीति अगर अहम योगदान कर सकती है तो वह है मूल्य। भारत का ट्रैक रिकॉर्ड इस मामले में काफी साफ-सुथरा है। भारत की आर्थिक विकास-दर 5 5 प्रतिशत, मुद्रास्फीति 7 प्रतिशत और एम-3 विकास-दर 17 प्रतिशत रही है।

भारत में यह समझ विकसित करने में भी कठिनाई है कि देश स्वतत्र मौद्रिक नीति अपनाने के बावजूद स्वतंत्र विनिमय-दर व्यवस्था कायम नहीं रख सकता है। रॉबर्ट मुडेल ने 40 साल पहले जो बात कही थी, वह आज भारतीय मौद्रिक नीति का मूल तत्त्व बनी हुई है। अगर कोई देश एक स्वाधीन नीति अपनाता है तो वह दूसरी नीति की स्वाधीनता का त्याग करता है। भारतीय मानस इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है।

एक समस्या इस त्रुटिपूर्ण विश्वास की है कि हम भारतीय बहुत अनोखे हैं और हम मुद्राआपूर्ति पर नियंत्रण रखते हुए भी ब्याज-दरों को काबू मे रख सकते हैं। मूल मौद्रिक अर्थव्यवस्था हमें सिखाती है कि हम दोनों को एक साथ काबू मे नहीं कर सकते।

हाल के वर्षो मे रिजर्व बैंक ने मौद्रिक लक्ष्यो, विनिमय-दर सकेतों, ब्याज-दर संकेतो और मुद्रास्फीति के लक्ष्यों के बारे में जोर देना कम किया है। इससे नीतिगत मामले मे थोड़ी स्वतन्त्रता आई है।

ऐसा नहीं है कि रिजर्व बैक के नीतिगत असमजस कोई अनूठे नही हैं। अन्य सेंट्रल बैंको ने भी ऐसी ही स्थितियों का सामना किया है। बैंक ऑफ इंग्लैंड ने 91 सेंट्रल बैंकों के बारे मे एक सर्वेक्षण किया और पाया कि सन् 1998 मे 54 बैकों ने मुद्रास्फीति के बारे में विशिष्ट लक्ष्य तय किए हुए थे, जबकि सन् 1990 मे सिर्फ 8 बैंकों ने इस तरह का लक्ष्य निर्धारित किया था। मुद्रास्फीति का लक्ष्य तय होने से मुद्रा-नीति मे अनुशासन आता है और सेंट्रल बैंक अधिक जवाबदेह हो जाता है। हालॉकि परिस्थितियों के वशीभूत होकर सरकार लक्ष्य बदल सकती है और नीति के प्रतिकूल जानेवाले लक्ष्य को तिलांजलि दे सकती है।

परिपक्व वित्तीय प्रणाली में हमे निचली न्यूनतम ब्याज-दरों की सनक मे उबरने की जरूरत है। मुद्रास्फीति की दर निरंतर कम रहने से वास्तविक ब्याज- दरें कम रहेंगी और इससे दीर्घकालिक विकास-दर सुनिश्चित हो सकेगी।

यह मानकर चलें कि बचत-दर जी डी पी की 26 प्रतिशत है और भुगतान संतुलन में चालू खाता घाटा 2 प्रतिशत है। इससे 28 प्रतिशत निवेश-दर सुनिश्चित हो सकती है। अगर पूँजी निर्गत अनुपात 4 हो तो आर्थिक विकास-दर 7 प्रतिशत होगी। हम इसमे संतुष्ट नही है। हमारा सपना 10 प्रतिशत विकास-दर हासिल करने का है।

हम एक बार फिर 7-8 प्रतिशत विकास- दर की बहादुरी भरी बातें कर रहे हैं। यही पर खतरा निहित है। हम जल्दी ही आर्थिक विकास-दर से अधिक वास्तविक ब्याज-दरो के अवरोधक मे टकरा जाएँगे और अर्थव्यवस्था मंदी मे आ जाएगी। इसका नतीजा मुद्रास्फीति बढ़ने में होगी, जो सहनीय नहीं होगी। समय पर ब्याज-दरो में परिवर्तन से हम बदलाव की जरूरतों से निपट सकते हैं। उद्योगो को यह सोचना चाहिए कि बृहद् आर्थिक परिदृश्य में हम न्यूनतम ब्याज -दरो के सबसे निचले स्तर पर पहुँच गए हैं। अगर इसमे और कटौती की गई तो मुद्रास्फीति बढने की पूरी आशंका है।

बैंकिंग क्षेत्र में सुधार

बैंकिग क्षेत्र मे सुधार के लिए जिन मुद्दो पर तत्काल ध्यान दिए जाने की जरूरत है, वे इस प्रकार है—

कैश रिजर्व देशों : हालाँकि यह मुद्रा पूरी तरह से समग्र मौद्रिक नीति का अग ह, फिर भी यह एकमात्र मुद्‌दा बैको के मुनाफे पर भारी पडता है। सी.आर आर घटाने की हाल की घोषणा के बाद प्रभावी सी.आर आर 8 प्रतिशत रह जाएगा, लेकिन इसमे और भी कटौती की जरूरत हे। अगर 2 साल की अवधि मे इसे 3 प्रतिशत क स्तर पर ला दिया गया तो बको के ससाधनों मे प्रतिशत 2,100 करोड रुपए की बढ़ोतरी होगी।

कानूनी संशोधन : कानूनी संशोधन की जरूरत लंबे समय से महसूस की जा रही है, लेकिन यह प्रक्रिया एकदम मथर गति से चल रही हे। सन् 1997 और 1998 में गेर-बैंकिग वित्तीय कंपनियों के लिए किए गए कानूनी परिवर्तनों से स्पष्ट है कि हर काम को प्राथमिकता दी जाए तो तेजी मे सशोधन किए जा सकते है। भारतीय उद्योग जगत् को ऋण वसूली के कारण कानून विकसित करने पर विशेष ध्यान देना होगा, ताकि बैंको की स्थिति में ठोस सुधार आए।

पूँजी-पर्याप्तता और बैंक स्वामित्व : पूँजी-पर्याप्तता के मानको मे कसाव लाए बिना भी सपत्ति के सामान्य विस्तार के लिए भारी पूँजी की जरूरत है। बैको में सार्वजनिक क्षेत्र की बडी पूँजी लगी है। ऐसी स्थिति मे सरकार को बैंक पूँजी जरूरतो को पूरा करने के लिए बड़े प्रावधान करने होंगे। ऐसे में बंकों में सरकार की हिस्सेदारी 51 प्रतिशत से घटाकर 33 प्रतिशत करने का सवाल भी अहम हो जाएगा।

वित्तीय बाजारों का एकीकरण : मुद्रा प्रतिभूति और विनिमय बाजारो के एकीकरण की जरूरत पूर्वी एशियाई सकट के बाद से खासतौर से महसूस की गई है। रिजर्व बैंक ने इन तीनों बाजारों को मजबूत बनाने मे प्रशंसनीय प्रयास किए हैं, लेकिन घरेलू बाजार को विदेशी मुद्रा बाजारो मे जोड़ने को लेकर आशंकाएँ रही हैं। इन आशकाओं से पिंड छुड़ाने की जरूरत है।

संचालन संबंधी मुद्‌दे : बैंकों की स्वायत्तता और जवाबदेही पर विचार-विमर्श तथा बहसें हुई हैं, लेकिन भारत में ये मुद्‌दे एकदम धुँधलाए रहे हैं, क्योकि बैंकों के नियामक और सरकार—दोनों ही बैंको के स्वामी हैं। ऐसी स्थिति में संचालक, स्वामी और प्रबंधन की भूमिका में घालमेल हो गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के बेंकों में जिसे शीर्ष 'प्रबंधन' कहा जाता है, उसकी भूमिका सिर्फ प्रबंधको की ही है।

सरकार को इस बारे में गहराई से विश्लेषण करना चाहिए। नई सहस्राब्दी के लिए बैंकिंग क्षेत्र का यह सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा है।

6 **बद क्रेडिट चैनलों को खोलने के उपाय :** इस बात के लिए बैंको की आलोचना की जाती है कि ऋण देने मे उनकी रुचि नही रही है ओर वे सरकारी प्रतिभूति मे निवेश कर आसान रास्ता चुन रहे है। यह आलोचना सही नही है। बैंकों का पहला दायित्व जमाकर्ता के धन की रक्षा करना हे। अगर सरकारी प्रतिभूतियो पर अधिक ब्याज मिलता हे तो बैंकों को दोष नहीं दिया जाना चाहिए। यदि बैंकों को ऋण देने के लिए प्रेरित करना है तो सभी सबद्ध पक्षों को क्रेडिट चेनल खोलने के लिए ढाँचागत सुधारो की तरफ बढना होगा और वित्त–पोषण की नई व्यवस्था कायम करनी होगी।

7. **कमजोर बैंकों के बारे में वर्मा समिति की रिपोर्ट :** कमजोर बेंको के बारे में वर्मा समिति ने बेहतरीन नुस्खा सुझाया है। समिति ने इडियन, यूको और यूनाइटेड बैक के अलावा सार्वजनिक क्षेत्र के छह बैको को कमजोर माना है। समिति ने जो प्रमुख सिफारिशे की हैं, वे इस प्रकार हैं—

   क समिति ने पहले तीन कमजोर बेंकों के लिए सरकार मे 5,500 करोड़ रुपए के समर्थन की सिफारिश है, लेकिन मैं इसके खिलाफ हूँ। किसी मरे हुए व्यक्ति को कृत्रिम साँस से कब तक जिदा रखा जा सकता है? अगर इतनी राशि सरकार दे ही सकती है तो इसका इस्तेमाल बैंकिग क्षेत्र में टेक्नॉलॉजी के सुधार पर करना चाहिए।

   ख अगर समिति की सिफारिश के अनुरूप संपदा पुर्नानर्माण कंपनी बनानी ही है तो उसपर लगनेवाले 15 करोड़ रुपए की पूरी पूँजी निजी क्षेत्र में आनी चाहिए और सरकार को भी इतना ही योगदान करना चाहिए।

   ग वित्तीय पुनर्संरचना प्राधिकरण की स्थापना की सिफारिश उचित है, लेकिन इसे रिजर्व बैंक के ढाँचे मे नहीं रखना चाहिए। इस तरह से यह रिजर्व बैंक की विशेष शाखा बन जाएगी और बिना वजह की समस्याएँ पैंदा होंगी।

   घ. स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति योजना (वी.आर.एस) के लिए कोई वित्तीय सहारा साल में 3 प्रतिशत से अधिक स्टाफ कटौती के लिए ही

दिया जाना चाहिए

ङ पूँजी-पर्याप्तता के मार्च 2000 के मानक के आधार पर इन तीन बैंकों को धीरे-धीरे निर्धारित अनुपात की ओर बढने का कार्यक्रम दिया जा सकता है, लेकिन सरकार को इनका पूँजी-पोषण नही करना चाहिए।

च यह बात ठीक से समझने की है कि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के असली हिस्सेदार जमाकर्ता ही है। आज नही तो कल ये जमाकर्ता इन कमजोर बैंकों में दॉव लगाने पर पुनर्विचार करेंगे। अगर सरकार ने कारगर उपाय नही किए तो यह काम जमाकर्ता कर डालेंगे।

हमे यह मानना होगा कि दुनिया भर में सार्वजनिक क्षेत्र के बैक पुनर्सरचना के कठिन दौर से गुजर रहे हैं और हम भी इस समायोजन से अछूते नहीं रह सकते। बहस का समय चला गया है और काम को अंजाम देने का वक्त आ गया है। अगर कमजोर बैंको के रोग को अभी ठीक नहीं किया गया तो यह रोग पूरी वित्तीय प्रणाली मे फैल सकता है। एलन ग्रीनस्पैन ने कहा भी है कि वित्तीय प्रणाली उतनी ही मजबूत होती है, जितनी इसकी सबसे कमजोर कड़ी।

□

वित्तीय क्षेत्र में सुधारों का एजेंडा

—एन ए. मजूमदार

बृहद् अर्थव्यवस्था के कुशल प्रबंधन के लिए सुदृढ वित्तीय क्षेत्र पहली शर्त है। सन् 1991 में भारतीय अर्थव्यवस्था के तहत शुरू की गई उदारीकरण की प्रक्रिया के समानांतर वित्तीय क्षेत्र में भी बदलाव आए। दरअसल, इस क्षेत्र में सन् 1990 के दशक मे महत्त्वपूर्ण बदलाव देखे गए। इस अध्ययन में वित्तीय क्षेत्र के चुनिंदा हलको में आए इन बदलावो की समीक्षा करने का प्रयास किया गया है। इस अध्ययन से एक सामान्य निष्कर्ष यह निकला है कि हमारी ताकत नकलची सुधार लागू करने तक ही सीमित है। साथ ही, भारत के सामाजिक- आर्थिक ताने-बाने के मुताबिक इन सुधारों को दिशा न दे पाना हमारी मुख्य कमजोरी रही है। इसके अलावा सुधार लागू करने की प्रक्रिया के दौरान कई विकृतियाँ भी इसमे देखी गई है। इसलिए भविष्य के लिए सुधारों का स्वरूप तय करते समय इन विकृतियो का सुधारना तथा उपेक्षित क्षेत्रों पर गौर करना हमारा मुख्य ध्येय होना चाहिए।

बैंकिंग क्षेत्र

वित्तीय क्षेत्र के सुधारो का मुख्य ध्यान बैंकिंग क्षेत्र पर रहा है। हमने द्वितीय नरसिंहम समिति की सिफारिशों के अनुसार बुनियादी मानदंडों को सफलतापूर्वक लागू कर दिया है। इन उपायो के तहत मार्च 2000 के अंत तक न्यूनतम पूँजी-पर्याप्तता अनुपात को 8 प्रतिशत से बढ़ाकर 9 प्रतिशत करने, बाजार जोखिम को पहचानने तथा सरकार द्वारा स्वीकृत प्रतिभूतियों के लिए मार्च 2000 के अंत तक 2 5 प्रतिशत के जोखिम वजन का निर्धारण करने, परिसंपत्ति के कठोर वर्गीकरण की दिशा में बढने, आय की पहचान करने, 1 अप्रैल, 1999 से परिसंपत्ति जवाबदेही प्रबंधन (ए एल एम) को औपचारिक स्वरूप देने और लेखा तथा आय आदि का खुलासा करने मे पारदर्शिता बढाने का लक्ष्य तय किया गया है।

हालाँकि हमने 'ऋण पर लिये मानदंड' लागू करने की दिशा मे काफी हद तक सफलता अर्जित की है, परंतु सार्वजनिक क्षेत्र के बैंको के बुनियादी मुद्दो पर पकड बनाने मे हम नाकाम रहे हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के बैकों को 'अकुशल तथा गैर-व्यावसायिक' कहने का चलन बढ गया है और भारतीय विशेषज्ञो द्वारा ही इस प्रकार के विशेषणों के प्रयोग से इन बैंको का आत्मविश्वास और घटा है। उदाहरण के लिए, सार्वजनिक क्षेत्र के कमजोर बैंकों के पुनर्गठन सबधी कार्यदल की रिपोर्ट (अध्यक्ष, एम एम वर्मा) मे इन बैको की सुदृढता को इनके ऋणमुक्त होने, आय अर्जित करने तथा लाभ कमाने की क्षमता के आधार पर परखने की कोशिश की गइ है। इन कसौटियो पर ओरिएंटल बैक ऑफ कॉमर्स तथा स्टेट बैंक ऑफ पटियाला ही सुदृढ़ बैंकों के तौर पर उभरे हैं, जबकि शेष बैंको को मामूली या अत्यधिक गंभीर रूप से बीमार बैकों की श्रेणी में रखा गया है। इंडियन बैक, यूको बैक तथा यूनाइटेड बैक को स्पष्टत. काफी कमजोर घोषित किया गया है और इनके लिए तुरत उपाय करने की जरूरत है, जबकि छह अन्य बैंकों—इलाहबाद बैंक, सेंट्रल बैंक, इंडियन ओवरसीज बैंक, पजाब एड सिध बैक तथा विजया बैक की भी पहचान कमजोर बैंकों के रूप में की गई है। इंदिरा गांधी इस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट रिसर्च द्वारा तैयार 'इडिया डेवलपमेंट रिपोर्ट (1999-2000)' के अनुसार 'भारतीय बैंक तथा वित्तीय सस्थान उच्च प्रभाव क्षमता, जोखिम-आकलन तथा प्रबधन के कमजोर ज्ञान, कर्मचारियों तथा शेयरधारकों के हितो से संबंधित विवादो पर नियंत्रण की अपर्याप्त क्षमता के अनूठे संयोजन दरशाते हैं'' । अलबत्ता, इन समस्याओ की गंभीरता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि बैंकिग क्षेत्र को अगले 2-3 वर्षों के भीतर समस्यामुक्त कर पाना संभव नहीं है। विनियमनो मे हमारे दूरदर्शी सुधारों के बावजूद आनेवाले वर्षो में भारत की बैंकिग प्रणाली मे आग संकट तथा दीवालियापन आ सकता है।' (पृष्ठ 21) ऐसे में सार्वजनिक क्षेत्र के बैको को हम कैसे बचा सकते हैं ? क्या कोरिया और थाईलैंड की तीर्थयात्रा के माध्यम से ऐसा किया जाएगा ?

दुर्भाग्यवश इनमें से किसी भी भारतीय विशेषज्ञ ने भारतीय सदर्भ में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की गैर-उत्पादक परिसपत्तियों (एन.पी.ए) की उत्पत्ति के बारे में जानने का प्रयास नहीं किया है। ये एन पी.ए इन बैंकों द्वारा विदेशों से कम अवधि के लिए भारी ऋण लेने और इस राशि को संपत्ति या शेयर-बाजारों में निवेश करने का परिणाम नही हैं, जैसाकि अधिकतर पूर्वी एशियाई देशों मे हुआ था। भारत मे इसका कारण राजनीतिक हस्तक्षेप, ऋण-मेले या कुछ व्यापारिक उधारकर्ताओ को

दी गई खास सहूलियतें है। पेशेवर योग्यता के आधार पर भारतीय बेकर विश्व भर मे अद्वितीय हैं, इसलिए सार्वजनिक क्षेत्रों के बैंको की खस्ता हालत के लिए उन पर दोष मढना अनुचित ही होगा। यह ठीक है कि उन्हें जोखिम मापने के अर्थशास्त्रीय मॉडल से उचित प्रकार से निपटना न आता हो, परंतु उन्हे जोखिम-प्रबधन का भरपूर व्यावहारिक ज्ञान है। दरअसल, दोष उस बृहद् माहौल का है, जिसमे वे काम करते हैं और उसे ही बदलने की जरूरत है। अब भारत सरकार या भारतीय रिजर्व बैंक को सार्वजनिक क्षेत्रों के बैंकों के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है, क्योकि बैंको के प्रबंधन मे वे सक्रिय भूमिका निभाते है। इन बेको को स्वायत्तता देना भी व्यावहारिक समाधान हो सकता है। इनके मौजूदा निदेशक मंडलो को बर्खास्त कर उनके स्थान पर ईमानदार और प्रतिष्ठित विशेषज्ञों, जैसे उच्च न्यायालयो के अवकाशप्राप्त न्यायाधीशों, अर्थशास्त्रियों, चार्टर्ड एकाउंटेंट आदि, को बोर्ड मे शामिल किया जाना चाहिए। एन पी ए से निपटने के लिए बैंक ही सबसे सक्षम एजेसी है, न कि परिसंपत्ति प्रबंधन कपनियाँ या परिसंपत्तियाँ पुनर्गठन कोष।

भूमडलीकरण की अवधारणा की अपर्याप्त समझ के कारण बौद्धिक दासता उदारीकरण के युग के उप-उत्पाद के रूप में उपजी है। भारतीय स्टेट बैंक अपने लिए आर्थिक सलाहकार नियुक्त करते समय लंदन स्थित 'इकॉनॉमिस्ट' में इस पद का विज्ञापन देना पसंद करता है। शुक्र है कि अब तक किसी भारतीय विशेषज्ञ ने कमजोर बैंको के प्रबंधन हेतु उन्हे लंबी अवधि के लिए विदेशी बैंकों को सौंपने का सुझाव नही दिया है, जैसाकि पोलैंड के मामले मे हुआ है। देसी समस्याओ से देसी उपायों के जरिये बेहतर तरीके से निबटा जा सकता है। आत्मनिंदा से न तो समस्या का हल प्राप्त किया जा सकता है और न ऐसा करना वित्तीय क्षेत्र की छवि के लिए ही ठीक होगा।

सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की समस्याओ की जड में प्रमुख मुद्दा ऋण सबंधी है। बैंकिंग क्षेत्र के संसाधनों का उचित प्रयोग उधार जमा अनुपात से प्रतिबिबित होता है, जो पिछले कई वर्षो से 50 प्रतिशत के आस-पास बना हुआ है। इन संसाधनों के अधिक सार्थक इस्तेमाल से सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों का लाभ और अर्थव्यवस्था का विकास भी तेज गति से हो सकता है।

विकास बैंक

बैंकिंग क्षेत्रों में सुधार के लिए गठित नरसिंहम समिति ने सुझाव दिया था कि विकास वित्त संस्थानों (डी एफ आई) को स्वयं को बदलकर व्यावसायिक

बैंको या गैर-बैंकिंग वित्त-कंपनियों के रूप मे ढाल लेना चाहिए। बाद में खान कार्यदल ने भी डी.एफ.आई को बैंक के रूप में बदलने की अनुमति देने की सिफारिश की। भारतीय रिजर्व बैंक ने भी इस विषय पर विचार-विमर्श हेतु एक परचा जारी किया। उसपर हुई प्रतिक्रियाओ के आधार पर भारतीय रिजर्व बैंक का निष्कर्ष रहा कि ' हालाँकि यूनीवर्सल बैंकिंग की अवधारणा संसाधनो के कुशलतापूर्वक इस्तेमाल की दृष्टि से वाछनीय है, परंतु इस प्रकार की प्रणाली की तरफ बढते समय काफी सतर्क रहने की आवश्यकता है। कॉरपोरेट जगत् अब भी परियोजनाओं के वित्त-पोषण के लिए डी एफ आई. पर निर्भर है। दूसरी तरफ कम अवधि के वित्त पोषण के लिए आवश्यक ढॉचागत सुविधाएँ तथा विशेषज्ञता व्यावसायिक बैंकों के पास है।' (वार्षिक रिपोर्ट, सन् 1998-99, पृष्ठ 149) यह निष्कर्ष तार्किक है। आमतौर पर बैंको तथा डी एफ.आई को क्रमश: कम और लबी अवधि के ऋण उपलब्ध कराने की दशा मे विशेषज्ञता प्राप्त है। पूर्वी एशिया का अनुभव भी इस निष्कर्ष की ही पुष्टि करता है।

पूँजी बाजार

पूँजी बाजार अब अनुभवी हो चले हैं। इलेक्ट्रॉनिक व्यापार, क्लियरिंग निगमों (शोधन गृह) तथा निक्षेपगृहो (डिपॉजिटरी) के बाद से प्रतिभूति बाजारो में महत्त्वपूर्ण संस्थागत बदलाव आए है। मुबई बाजार अब सचमुच राष्ट्रीय बाजार बन गया है। डिरिवेटिव व्यापार भी शुरू होने की प्रक्रिया में है। इस सदर्भ में जिन दो समस्याओ पर अब तक अधिक ध्यान नहीं गया है, वे हैं—निजी प्लेसमेंट बाजार तथा म्यूचुअल फंड्स से प्राप्त लाभांश और आय को आयकर से मुक्त रखना।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान निजी प्लेसमेंट बाजार कॉरपोरेट घरानों के लिए ससाधन जुटाने के प्रमुख स्रोत के तौर पर उभरे हैं। सन् 1998-99 में बैंकों, वित्तीय संस्थानों और सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र की कंपनियों ने इस तंत्र के जरिये लगभग 50,000 करोड़ रुपए जुटाए, जो प्रोस्पेक्ट्स और राइट्स इश्यू के माध्यम से अर्जित 10,000 करोड़ रुपए से कहीं अधिक हैं। अब सवाल यह उठता है कि बाजार के विकास की कीमत पर निजी प्लेसमेंट मार्गो का विकास क्या स्वास्थ्यकारी है? यह मुद्दा महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि फिलहाल निजी प्लेसमेंट, सेबी द्वारा निर्धारित निवेशको के हित संबंधी मानदंडों की सुरक्षा के दायरे में नहीं आते। नए उद्यमी के लिए निजी प्लेसमेंट तक पहुँचना सरल भी नहीं है।

सन् 1998-99 के बजट में म्यूचुअल फंड्स से प्राप्त आय और लाभांश को

आयकर के दायरे से मुक्त रखा गया था। ऐसा ऊपरी तौर पर इक्विटी मे निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए किया गया था। दुर्भाग्यवश इस कदम से बैंकों के साथ भेदभाव हुआ, क्योंकि उनसे प्राप्त आय पर आयकर देय है। इस प्रकार यह उपाय गैर-समानतावादी तथा अमीरों के पक्ष मे है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि व्यावसायिक बैंकों ने ही भारत की बचत-दर को जी.डी.पी के 12 प्रतिशत से 25 प्रतिशत तक बढ़ाने में अहम भूमिका निभाई थी। ऐसे मे बैंको के साथ भेदभाव की नीति से इस राष्ट्रीय बचत-दर में कमी आ सकती है। यह देखना होगा कि पूँजी बाजार को विकसित करने का हमारा उत्साह बचत के अन्य उपकरणो को नुकसान न पहुँचाए। यह भेदभाव जितनी जल्दी दूर किया जाएगा, अर्थव्यवस्था की दृष्टि से उतना ही अच्छा है।

ग्रामीण ऋण-प्रणाली

ग्रामीण ऋण-व्यवस्था, जिसके अंतर्गत व्यावसायिक बैंको की ग्रामीण शाखाएँ, सहकारी ऋण संस्थान और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक शामिल हैं, की लगभग पूर्ण उपेक्षा इस बात का स्पष्ट उदाहरण है कि वित्तीय क्षेत्र के हमारे सुधार नकल पर आधारित है। यह पूरी प्रणाली आज खस्ताहाल है। कृषि तथा लघु क्षेत्र के उद्यम जी डी पी और निर्यात में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। इस प्रकार ग्रामीण ऋण प्रणाली भारतीय वित्त क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण अंग है।

ग्रामीण ऋण प्रणाली में जान फूँकने को वित्त क्षेत्र के भविष्य के लिए सुधारों के एजेंडे में प्रमुखता से शामिल किया जाना चाहिए। (रिवाइविंग रूरल क्रेडिट, इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 19 जून, 1999) यहाँ मामला प्रणाली मे हलकी-फुल्की छेड़छाड़ का या कुछ सहकारी संस्थानों के साथ सहमति के करार करने भर का नहीं है, बल्कि पूरे तंत्र को कारगर तथा सक्रिय बनाने के लिए नई संरचना तैयार करने का है।

निष्कर्ष

दूसरी पीढ़ी के वित्तीय क्षेत्र के सुधारो के बारे में बात करना समझदारी ही होगी। इस संक्षिप्त अध्ययन में इस बात को स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि सुधार लागू करने की प्रक्रिया के दौरान आई विकृतियों को दूर करना और सुधार-प्रक्रिया के दौरान उपेक्षित रहे क्षेत्रों पर ध्यान देना भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भविष्य के सुधारो के एजेंडे में इन पक्षों की अनदेखी नहीं की जा सकती।

☐

कृषि-नियोजन : इक्कीसवीं शताब्दी की चुनौतियाँ तथा अवसर

—के.सी. पंत

हमारे देश को गरीबी की समस्या से अभी निबटना है। वर्तमान में 1 अरब आबादी में से 35 करोड़ लोग गरीबी-रेखा के नीचे गुजर-बसर कर रहे हैं। 60 प्रतिशत से अधिक आबादी अब भी अपने जीवनयापन और रोजगार के लिए कृषि पर निर्भर है। चिंता का प्रमुख विषय यह है कि राष्ट्रीय आय में कृषि-क्षेत्र के योगदान में तेजी से कमी आई है, परंतु कृषि पर जनसंख्या की निर्भरता में मामूली गिरावट ही देखी गई है। ग्रामीण आबादी के लिए कृषि क्षेत्र में लाभकारी रोजगार अवसरों को जुटाना उस परिदृश्य में और भी चुनौतीपूर्ण कार्य है, जहाँ जोतों का आकार न सिर्फ छोटा है, बल्कि यह लगातार सिकुड़ता जा रहा है और भूमि पर दबाव निरंतर बढ़ता जा रहा है। ऐसे में ग्रामीणों, विशेषकर गरीब तबकों के लिए रोजगार जुटाने के लिए जबरदस्त प्रयास करने की आवश्यकता है।

खाद्यान्न आत्मनिर्भरता

रचनात्मक नियोजन, कृषि अनुसंधान तथा विकासोन्मुख नीतियों के चलते हमारा देश खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बन सका है। सन् 1960-61 में खाद्यान्न उत्पादन 8.2 करोड़ टन रहा, जबकि पिछले वर्ष 20.3 करोड़ टन का रिकॉर्ड उत्पादन दर्ज किया गया। इसी प्रकार नब्बे के दशक में वार्षिक सुरक्षित (बफर) भंडार 2 से 3 करोड़ टन रहा। खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि हमारी जनसंख्या वृद्धि के मुकाबले अधिक रही है। यही कारण है कि कृषि के क्षेत्र में देश के प्रदर्शन को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सराहा गया है। तिलहन, व्यापारिक फसलें और पशुधन के क्षेत्र मे हमारी प्रगति उल्लेखनीय रही है। सन् 1960-61 में तिलहन उत्पादन 70 लाख टन रहा, जो सन् 1999 में बढ़कर 2.5 करोड़ टन तक पहुँच गया। इसी प्रकार गन्ना

उत्पादन भी सन् 1960–61 मे 11 करोड़ टन के मुकाबले बढकर 30 करोड़ टन हो गया। आलू उत्पादन भी 30 लाख टन से बढकर 2 3 करोड टन दर्ज किया गया। दूध उत्पादन 2 करोड टन से बढ़कर 7 5 करोड़ टन तक जा पहुँचा।

इस तरह जहाँ एक ओर आबादी लगातार बढ़ती रही, वहीं खाद्यान्न-उपलब्धता सन् 1950–51 में 400 ग्राम प्रतिदिन से कम रहने के बावजूद सन् 1997 में 510 ग्राम तक जा पहुँची। प्रति व्यक्ति दूध-उपलब्धता भी 125 ग्राम प्रतिदिन से बढकर 204 ग्राम हो गई। ये उपलब्धियाँ कम नहीं है और हम निश्चित रूप से इनके मामले मे गर्व महसूस कर सकते है।

इन सफलताओं से यह उम्मीद तथा विश्वास और दृढ़ होता है कि हमारे कृषि विशेषज्ञ भविष्य की चुनौतियो का मुकाबला बखूबी कर सकेंगे।

अलबत्ता हमें यह स्वीकार करना होगा कि आनेवाले दिनो में हमारे कृषि वैज्ञानिकों को और भी अधिक जटिल तथा कठिन समस्याओं से जूझना होगा। हमारे समक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण चुनौती खाद्यान्न उत्पादन मे समुचित और निरंतर वृद्धि सुनिश्चित करने की है, ताकि लगातार बढती स्वस्थ आबादी की खाद्यान्न की जरूरत पूरी की जा सके। हमारी आबादी 1 अरब से अधिक हो चुकी है और विशेषज्ञो के पूर्वानुमान के मुताबिक सन् 2035 तक हम इस क्षेत्र में चीन को पीछे छोड देगे। इस बढ़ती आबादी को भोजन उपलब्ध कराने के लिए हमें प्रतिवर्ष 50-60 लाख टॅन अतिरिक्त खाद्यान्न उत्पादन की जरूरत होगी।

इस सदर्भ में हमें सबसे पहले यह समझना होगा कि कृषि के लिए उपलब्ध भूमि सीमित है। दरअसल, सभावना तो यह भी व्यक्त की जा रही है कि कृषि योग्य क्षेत्रफल कुछ सिकुड़ सकता है। पर्यावरण की दृष्टि से जरूरी है कि वनाच्छादित क्षेत्र को उसके वर्तमान के खतरनाक स्तर के मुकाबले बढ़ाया जाए। इसी प्रकार शहरीकरण और उद्योग भी हमारी कृषि योग्य भूमि को निगलते जा रहे हैं। हम इन तथ्यों से आँखें नही मूँद सकते। मौजूदा स्थिति इस बात के मद्देनजर और भी जटिल हो गई है कि कृषि विकास के हमारे पुराने स्रोत संतृप्त हो गए हैं। इस परिदृश्य में कृषि उत्पादन को बढ़ाने के उपायो पर काम करने की जरूरत है।

क्षेत्र विशेष को ध्यान में रखकर किए जानेवाले नियोजन तथा समुचित नीतियों पर अमल करने से वर्षायुक्त क्षेत्र कृषि-उपज बढ़ाने में योगदान कर सकते हैं। वर्तमान में ये क्षेत्र हमारी 40 प्रतिशत आबादी तथा देश के 75 प्रतिशत गरीबो के लिए संसाधन उपलब्ध कराते हैं। फिलहाल कुछ राष्ट्रीय खाद्यान्न उत्पादन का 45 प्रतिशत हिस्सा इन क्षेत्रों से ही प्राप्त होता है। वर्षायुक्त क्षेत्रों मे कृषि उत्पादन

बढाने के लिए सरक्षित सिचाई की आवश्यकता होती है। इसलिए नियोजन की प्रक्रिया के दौरान ही सिचाई-प्रबंधन में किसानों की सक्रिय भागीदारी को बढावा देने के उपायो पर विचार करने की जरूरत है। इन लक्ष्यों को हासिल करने के लिए देश की पारिस्थितिकी में मौजूदा विविधता के मद्देनजर क्षेत्र विशेष का खयाल रखते हुए नियोजन की आवश्यकता है।

हालाँकि हमारे अतीत के प्रयासों ने विकास-प्रक्रिया को आगे बढ़ाने मे भरपूर मदद की है, परंतु कृषि उत्पादकता तथा उससे प्राप्त आय में क्षेत्रवार अतर को देखते हुए क्षेत्र विशेष सबंधी नियोजन आवश्यक हो गया है। विकसित और विकासशील क्षेत्रों के बीच की खाई बढ़ती जा रही है। जहाँ एक ओर उत्तरी तथा पश्चिमी क्षेत्रो ने शानदार प्रदर्शन किया है, वही पूर्वी और पूर्वोत्तर क्षेत्र कृषि-विकास में पिछड़े रहे हैं। उदाहरण के तौर पर, सन् 1970 के दशक में पंजाब मे पूर्वी राज्यों का चावल का उत्पादन रिकॉर्ड किए गए उत्पादन स्तर के बराबर हैं। पूर्व मे प्रायः बेहतर संसाधनयुक्त राज्यों को इस दृष्टि से प्राथमिकता दी जाती रही है कि इन क्षेत्रो मे अच्छी पैदावार का लाभ अन्य पिछड़े राज्यों को भी मिलेगा, परतु हमें स्वीकार करना होगा कि वास्तव में ऐसा नहीं हुआ।

असंतुलित क्षेत्रीय विकास

इस असंतुलित क्षेत्रीय विकास के कारण काफी बड़ी संख्या में ग्रामीणों को विकसित तथा शहरी इलाकों में जाकर बसने के लिए मजबूर होना पड़ा। इक्कीसवीं शताब्दी के दौरान कृषि-नियोजको की प्राथमिकता इस असतुलन को कम करने और अंततः पूरी तरह समाप्त करने तथा रोजगार के नए उत्पादक अवसर जुटाने की होनी चाहिए। सौभाग्यवश पूर्वी तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में भूमिगत जल के बड़े स्रोत मौजूद हैं। इन क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधन भी बड़े स्तर पर उपलब्ध हैं, लेकिन यहाँ उत्पादन स्तर काफी कम है। कृषि विकास के लिए इन क्षेत्रों की क्षमता का भरपूर इस्तेमाल करने के लिए उचित प्रयास करने की जरूरत है। ये क्षेत्र ढाँचागत विकास की दृष्टि से भी पिछड़े हुए हैं। यहाँ भूमिगत जल विकास, बिजलीकरण, बाजारो तथा सड़को के विकास के लिए किए गए निवेश के निजी तथा सामाजिक स्तर पर काफी भारी मात्रा में लाभ मिल सकते हैं। ढाँचागत सुविधाओं के अभाव के कारण बहुत सी विज्ञान-आधारित कृषिगत प्रौद्योगिकी इन क्षेत्रों में नहीं पहुँच पाई है। इस स्थिति में तेजी से सुधार करने की आवश्यकता है।

इन क्षेत्रों के किसानो के सूचना-स्तरों में भी सुधार करने की आवश्यकता

. इस पूरे क्षेत्र में विस्तार सेवा तंत्र को मजबूत बनाने की जरूरत है। इस
ुती देने के लिए सुदृढ़ सेवाक्षेत्र भी चाहिए, जो कृषि उत्पादकता बढाने
वश्यक आगत की समय पर आपूर्ति सुनिश्चित करेगा। इक्कीसवी
नियोजन-प्रक्रिया के अंतर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में सूचना के जल्द प्रसारण
ना प्रौद्योगिकी की क्षमता का भरपूर इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

वधीकरण

में कृषि के विविधीकरण पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता था। दरअसल,
बानी और मत्स्यपालन के विकास रूप में कृषि के विविधीकरण की
नाएँ हैं। पशुधन का क्षेत्र कृषि क्षेत्र की विकास प्रक्रिया मे तेजी लाने
भूमिका निभा सकता है। दूध, मांस, ऊन और अंडों के उत्पादन की
री पशुधन-उत्पादकता विश्व मे निम्नतम है। दूध का सबसे बडा
होने के बावजूद उत्पादकता तथा प्रति व्यक्ति दूध की उपलब्धता की
कई विकसित देशों मे पीछे है। मत्स्य क्षेत्र अभी तक अविकसित है।
उत्पादन बढाने की भी काफी सभावना है। हमारे पास 14 लाख
ारा पानी उपलब्ध है, जो छोटी मछलियों के विकास के अनुकूल है,
न इसका कुल 10 प्रतिशत हिस्सा ही इस्तेमाल किया जा रहा है।
ाब्दी में इन क्षेत्रों का विकास करना होगा, ताकि देश के आर्थिक
महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकें।

अलावा पर्यावरण के अनुकूल कृषि क्षेत्र का विकास करने की
में इस बात का ध्यान नहीं रखे जाने के कारण प्राकृतिक ससाधनो
है। साठ के दशक के मध्य में शुरू की गई हरित क्रांति भी प्राकृतिक
त्यधिक उपयोग के लिए जिम्मेदार हो सकती है। इसके लिए कुछ
किसानों की क्षमताओ का कम आकलन भी दोषी है। इसी प्रकार
नाओं पर जोर देने की प्रवृत्ति भी ससाधनों के दोहन और कुप्रबंधन
है। उदाहरण के लिए—नहरो के पानी, बिजली, नाइट्रोजन उर्वरकों
क रिआयतों के चलते किसान इनके खतरों की अनदेखी करते हुए
क प्रयोग करने के लिए प्रेरित हुए। हरित क्रांतिवाले क्षेत्रों में अकसर
, पानी जमाव, जलस्तर में गिरावट, पानी की गुणवत्ता में कमी, भूमि
आदि समस्याएँ सामने आ रही हैं। उधर जीविका-निर्वाह से जुडे
रण, वन-कटाव, रेगिस्तान में भूमि के बदलना आदि समस्याएँ सिर

उठा रही हैं, जहाँ किसानों की निवेश-क्षमता तो कम है ही, साथ ही सरकार की ओर से भी उनपर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।

प्राकृतिक संसाधनों के स्तर में गिरावट से कृषि विकास की गति कम हुई है। देश की बढ़ती आबादी की मौजूदा और भविष्य की जरूरतों को पूरा करने के लिए प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण इक्कीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी चुनौती है। दरअसल, कृषि के टिकाऊ उत्पादन के लिए प्रभावी नियोजन के साथ-साथ पर्यावरण के अनुकूल प्रौद्योगिकी और नीतियों की आवश्यकता है।

कृषि में घटता निवेश

कृषि में जनता का घटता निवेश भी चिंता का विषय है। अस्सी के दशक के शुरुआती वर्षों में शुद्ध घरेलू उत्पाद का 9 प्रतिशत अंश दोबारा कृषि में पूँजी के तौर पर निवेशित कर दिया गया था; परंतु नब्बे के दशक के दौरान यह घटकर मात्र 5 प्रतिशत रह गया। इस प्रवृत्ति को बदलने की जरूरत है, ताकि कृषि विकास और क्षेत्रवार प्रदर्शन पर प्रतिकूल असर न पड़े। नियोजन-प्रक्रिया के तहत सिंचाई, सड़कों, परिवहन, ऋण-सस्थाओ, बाजारों, बिजलीकरण, वेयरहाउस, कोल्ड स्टोरेज आदि से जुड़ी सुविधाओं को विकसित करने पर जोर दिया जाता हे, लेकिन देश की भौगोलिक स्थिति तथा आवश्यक निवेश की दृष्टि से देखें तो वर्तमान में उपलब्ध कराए जा रहे संसाधन अपर्याप्त हैं। इस समस्या के समाधान के लिए संरचनात्मक विकास के क्षेत्र तथा प्रसंस्करण उद्योग में निजी क्षेत्र की अधिक भागीदारी जरूरी है। इस दिशा में सभी नीतिगत तथा प्रक्रियागत बाधाओं को पहचानकर तुरत आधार पर दूर करने की भी जरूरत है।

भूमंडलीकरण

नब्बे के दशक के आरंभ से ही घरेलू तथा अंतरराष्ट्रीय आर्थिक माहौल तेजी से बदल रहा है। कृषि तथा खाद्यान्न रिआयतों का मुद्दा काफी सवेदनशील है, परंतु बढ़ते राजकोषीय घाटे के मद्देनजर इनपर लगातार बहस होती रही है। कृषि रिआयतो के सामाजिक लक्ष्यों तथा उनकी राजनीतिक संवेदनशीलता को देखते हुए इस क्षेत्र में सुधार आदि को सावधानीपूर्वक लागू करना होगा। इस सिलसिले में विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) समझौते को लागू करने के परिणामस्वरूप कृषि उत्पादों के क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय बाजारों को खोले जाने के मुद्दे पर भी विचार करना होगा। डब्ल्यू.टी ओ. का सदस्य होने के नाते हमें मात्रात्मक

प्रतिबध हटाने के साथ साथ शुल्क दरो को घटाना होगा इसी प्रकार आयात परिदृश्य भी पूर्ववत् नही रहेगा। हालाँकि अंतरराष्ट्रीय बाजारो में हम मुक्त रूप से व्यापार कर सकेगे, परंतु हमें इस बात का विश्लेषण और आकलन करना होगा कि इससे हमारे उत्पादको तथा उपभोक्ताओं पर कैसा असर पड़ेगा।

अलबत्ता भूमंडलीकरण से केवल खतरा ही नहीं है। सच तो यह है कि इसने कई नए अवसर भी उपलब्ध कराए हैं। हमारे देश में प्राकृतिक संसाधनो का तो समुचित भडार है ही, ऋतुओ की विविधता भी है। हमारे यहाँ दुनिया के अन्य देशो के मुकाबले जैव-विविधता का भी पर्याप्त भंडार है। शायद ही कोई ऐसी फसल होगी, जो हमारे देश में न उगाई जा सके। डब्ल्यू.टी ओ समझौते के बाद विश्व बाजारों तक हमारी पहुँच बढ़ने की संभावना है। वर्तमान मे विश्व-निर्यात मे हमारी भागीदारी 1 प्रतिशत से भी कम है। हमे उन वस्तुओ की पहचान करनी होगी, जिनके मामले में अंतरराष्ट्रीय बाजार मे हम बेहतर स्थिति में हैं। हम अपेक्षाकृत सस्ती और अत्यधिक मेहनती श्रम शक्ति को लेकर भी लाभ की स्थिति मे है। अब हमे यह आकलन करना होगा कि इस महत्त्वपूर्ण संसाधन का बेहतर इस्तेमाल किस प्रकार किया जाए, ताकि हम अतरराष्ट्रीय बाजार की प्रतियोगिता मे टिक सके।

कृषिक्षेत्र में हमारे पास दुनिया की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाएँ मौजूद हैं, जिन्होंने अतीत में भी देश के समक्ष मुँह उठाकर खडी हुई चुनौतियों का जमकर मुकाबला किया था। भविष्य में भी आवश्यकता पड़ने पर वे फिर नए समाधान प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। राष्ट्र की भी उनसे यही अपेक्षा है।

कृषि के क्षेत्र में यह वह समय है, जब हमे उपलब्ध प्रौद्योगिकी तथा उपकरणो का इस्तेमाल खाद्यान्न और अन्य फसलों के उत्पादन के लिए करना चाहिए। इसके लिए हमें भारतीय कृषि के संदर्भ में लंबी अवधि को ध्यान में रखते हुए नियोजन करना होगा। इस दिशा में जैव प्रौद्योगिकी जैसी उन्नत प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल की जरूरत है, ताकि उत्पादकता संबंधी समस्याओ से प्रभावी तरीके से निबटा जा सके। ऐसे में संरचनात्मक कमियों से निबटने के लिए सरकार और उद्योग के बीच सहभागिता बढ़ाने की जरूरत है। हमें अपने कृषि वैज्ञानिकों द्वारा किसानों को प्रौद्योगिकी हस्तांतरण करने की उनकी क्षमता पर भी पूरा भरोसा है उम्मीद है कि वे इस मामले में हमें निराश नहीं करेंगे।

[राष्ट्रीय कृषि विज्ञान अकादमी के पाँचवें स्थापना दिवस के अवसर पर दिया गया व्याख्यान, 5 जून, 2000।]

□

भारतीय उद्योग जगत् : संरचनात्मक बदलाव, पुनर्गठन, प्रदर्शन तथा हाल की नीतिगत पहल

(भारतीय रिजर्व बैंक की रिपोर्ट)

भारतीय उद्योग जगत् नब्बे के दशक में महत्त्वपूर्ण बदलावों के दौर से गुजरा है। सगटनात्मक पुनर्गठन तथा अधिक प्रतिस्पर्धात्मक और चुनौतीपूर्ण औद्योगिक माहौल के निर्माण के उद्देश्य से औद्योगिक नीतियों मे बदलाव की प्रक्रिया जारी ह। संरचनात्मक परिवर्तनों से औद्योगिक प्रदर्शन आमतौर पर सुगठित हुआ है। नब्बे के दशक मे औद्योगिक उत्पादक सूचकांक (आई.आई.पी) पर आधारित औद्योगिक विकास में अस्सी के दशक की तुलना में (3 2 प्रतिशत से 9.3 प्रतिशत तक) व्यापक बदलाव (0.6 प्रतिशत से 12 7 प्रतिशत तक) देखा गया। औद्योगिक पुनर्गठन की आवश्यकता ने निजी कॉरपोरेट क्षेत्र मे विलयन और अधिग्रहण, सार्वजनिक क्षेत्र मे सुधारों तथा कॉरपोरेट जगत् की कार्यप्रणाली को अधिक प्रतिस्पर्धात्मक और प्रभावी बनाने से जुडे कई मुद्दों को उठाया है। इस अध्ययन मे इन्हीं पर प्रमुखता से विचार किया गया है।

उद्योग जगत् में संरचनात्मक बदलाव

पिछले तीन दशकों मे उद्योग जगत् मे विकास-दर तथा सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी पी.) में योगदान की दृष्टि से कोई खास प्रगति नहीं दिखाई पड़ी है। सत्तर के दशक मे औद्योगिक उत्पाद की औसत वार्षिक विकास-दर 4.4 प्रतिशत थी। सन् 1979-80 में यह दर मात्र 2.6 प्रतिशत रही थी और सन् 1978-79 में 11 6 प्रतिशत दर्ज की गई। अस्सी के दशक में औसत वार्षिक विकास-दर 7.2 प्रतिशत रही। विकास-दर का आँकडा सन् 1980-81 में 1.4 प्रतिशत और सन् 1989-90 में 11.2 प्रतिशत तक ऊपर उठा।

नौवें दशक में औद्योगिक विकास मे काफी उतार-चढाव देखे गए। पहले दो वर्षो में यह आँकडा 11.2 और 12 9 प्रतिशत रहा, जबकि सन् 1991-92 मे लुढ़ककर यह 1 9 प्रतिशत तक पहुँचा और अगले वर्षो में 6 प्रतिशत से ऊपर रहा। इसी दशक में वार्षिक औसत विकास-दर (1998-99 तक) कुछ कम, यानी 6 6 प्रतिशत रही। सन् 1970 में जी डी पी. में उद्योग की हिस्सेदारी 18 6 प्रतिशत थी और सन् 1995-96 में यह बढ़कर 27 प्रतिशत हो गई। सन् 1996-97 मे यह घटकर 22 प्रतिशत हो गई। अगले दो वर्षो तक यही आँकडा कायम रहा।

औद्योगिक उत्पादन के सूचकाक की दृष्टि से सन् 1991-92 से 1998-99 तक उत्पादन की विकास-दर धीमी रही। उद्योग जगत् के विभिन्न क्षेत्रों, विशेषकर खनन तथा खुदाई में इसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है (तालिका-1)।

तालिका-1

औद्योगिक उत्पादन की वार्षिक औसत विकास-दर

(प्रतिशत)

क्षेत्र	1981-82 से 98-99 तक	81-82 से 90-91 तक	91-92 से 98-99 तक
सामान्य सूचकाक	6 9	7 8	5.8
1. निर्माण	6 9	7.6	5.9
2 विद्युत्	8 0	9 0	6 8
3 खनन तथा खुदाई	6.0	8 3	3 0

तालिका-2

औद्योगिक उत्पादन की औसत वार्षिक विकास-दर-प्रयोग आधारित वर्गीकरण

(प्रतिशत)

क्षेत्र	1981-82 से 98-99 तक	1981-82 से 90-91 तक	1991-92 से 98-99 तक
1. बुनियादी वस्तुएँ	7.1	7 9	6 2
2. पूँजीगत वस्तुएँ	7.7	11 5	3.0
3. मध्यस्थ वस्तुएँ	6.7	5.9	7 7
4. उपभोक्ता वस्तुएँ	6 2	6.7	5.5
क. टिकाऊ	11 2	13 9	7.9
ख. गैर-टिकाऊ	5 3	5.5	5.0
सामान्य सूचकांक	6.9	7 8	5 8

तालिका-2 से स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर अस्सी के दशक में बुनियादी तथा पूँजीगत वस्तुओं के क्षेत्र ने तेज रफ्तार से विकास किया, वहीं नब्बे के दशक मे मध्यवर्ती वस्तुओ से जुड़े क्षेत्रों ने विकास की तेज गति दर्ज की। नौवें दशक में बुनियादी, पूँजीगत तथा उपभोक्ता वस्तुओं से जुड़े क्षेत्रो की विकास-दर में सापेक्ष कमी का प्रमुख कारण औद्योगिक क्षेत्र में जारी पुनर्गठन की प्रक्रिया है।

कुछ उत्पादन में क्षेत्रवार सापेक्ष योगदान

औद्योगिक उत्पादन के सामान्य सूचकांक मे विभिन्न क्षेत्रों के सापेक्ष योगदान मे बदलाव भी औद्योगिक उत्पादन मे हो रहे सरचनात्मक परिवर्तनों के एक अन्य पहलू को ही दरशाते हैं। तालिका-3 में उपलब्ध आँकडे बताते हैं कि अस्सी के दशक के दौरान निर्माण-क्षेत्र का योगदान 70 प्रतिशत से बढ़कर नब्बे के दशक मे 81 6 प्रतिशत हो गया। अलबत्ता, खुदाई और खनन के मामले में महत्त्वपूर्ण गिरावट देखी गई।

तालिका-3

विभिन्न वर्गो का औद्योगिक उत्पादन में तुलनात्मक योगदान

(प्रतिशत)

क्षेत्र	1981-82 से 90-91 तक (औसत)	92-93 से 98-99 तक* (औसत)
1 निर्माण	70 0	81 6
2 विद्युत	14 4	14 4
3 खनन एवं खुदाई	15 6	4 0
सामान्य सूचकाक	100 0	100 0

आई आई.पी शृखला निर्माण प्रक्रिया के दौरान विभिन्न क्षेत्रो के लिए निर्धारित वजनों मे भी इन बदलावों की झलक मिलती है। निर्माण-क्षेत्र का वजन, सन् 1980-81 = 100 के आधारवाली पूर्व की आई आई.पी. शृंखला में 77 1 प्रतिशत से बढ़कर सन् 1993-94 = 100 के आधारवाली मौजूदा शृंखला में 79 36 प्रतिशत हो गया। इसी प्रकार खनन और खुदाई तथा बिजली के क्षेत्रों का भी सापेक्ष वजन पुरानी तथा नई शृंखला में 11 46 प्रतिशत से घटकर 11.43 प्रतिशत और 10.47 प्रतिशत से घटकर 10.17 प्रतिशत रह गया।

* इस अवधि में उत्पादन लगभग स्थिर होने के कारण सन् 1991-92 से सबधित आँकडो को शामिल नहीं किया गया है।

तालिका 4
निर्माण-क्षेत्र का वजन ढाँचा

एन.आई.सी. श्रेणी	क्षेत्र	आधार 1970=100	आधार 80-81=100	आधार 93-94=100
श्रेणी-1	खनन एवं खुदाई	9 69	11 46	10 47
श्रेणी-2 और 3	निर्माण	81 08	77.11	79 36
श्रेणी-4	विद्युत्	9 23	11.43	10 17
कुल	सामान्य सूचकांक	100.0	100 0	100 0

नब्बे के दशक के दौरान बुनियादी और पूँजीगत वस्तुओ से जुड़े क्षेत्रो के सापेक्ष योगदान में गिरावट आई, परंतु मध्यवर्ती और उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्र मे वृद्धि दर्ज की गई (तालिका-5)।

तालिका-5
विभिन्न क्षेत्रों का औद्योगिक उत्पादन मे तुलनात्मक योगदान
(प्रयोग-आधारित वर्गीकरण)

(प्रतिशत)

क्षेत्र	1981-82 से 90-91 तक (औसत)	92-93 से 98-99 तक* (औसत)
1 बुनियादी वस्तुएँ	43 6	35.8
2 पूँजीगत वस्तुएँ	25 0	7.1
3 मध्यस्थ वस्तुएँ	14 6	35 2
4 उपभोक्ता वस्तुएँ	16 8	21 9
सामान्य सूचकाक	100.0	100.0

नब्बे के दशक में औद्योगिक उत्पादन मे बुनियादी तथा पूँजीगत वस्तुओ मे जुड़े क्षेत्रो का अपेक्षाकृत कम योगदान, अन्य बातों के अलावा व्यापार के उदारीकरण, विशेषकर आयात में तथा वित्तीय उदारीकरण के प्रभाव के कारण रहा। इसके चलते कॉरपोरेट जगत् को 'अन्य आय' से लाभ मिला। साथ ही कई उद्योगों में पुनर्गठन तथा प्रौद्योगिकी के आधुनिकीकरण की जरूरत के चलते प्रतिस्पर्धा में कमी के कारण भी ऐसा हुआ।

* इस अवधि में उत्पादन लगभग स्थिर होने के कारण सन् 1991 -92 मे सबधित आँकड़ो को शामिल नहीं किया गया है।

हाल में हुआ संगठनात्मक पुनर्गठन : विलयन तथा अधिग्रहण (एम. ए.)

हाल की अवधि में भारतीय कॉरपोरेट जगत् में हुआ पुनर्गठन अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक माहौल से प्रेरित था। नौवें दशक के शुरुआती वर्षों में शुरू किए गए सरचनात्मक सुधारों ने भारतीय उद्योग जगत् पर कॉरपोरेट पुनर्गठन करने, गौण गतिविधियों को छोड़ने तथा विलयन और अधिग्रहण के लिए दबाव डाला।

पुनर्गठन की इस प्रक्रिया मे शामिल है—(क) प्रमुख गतिविधि में पूर्ण योग्यता/कुशलता पर जोर, (ख) विदेशों में विस्तार, (ग) ससाधन जुटाना तथा (घ) उत्पाद पोर्टफोलियो को तर्कसंगत बनाना। कॉरपोरेट जगत् ने तेजी से विकास के लिए हाल के वर्षो में विलयन और अधिग्रहण की नीति अपनाई है। यह नीति भारतीय कंपनियो की पूँजी बाजार में पहुँच सुगम बनाने, क्षमता बढाने, नई प्रौद्योगिकी शामिल करने तथा निर्यात बाजार विकसित करने में मददगार साबित होगी (बॉक्स-1) इस सदर्भ मे निजी तथा सार्वजनिक उपक्रमों के समेकन का विकल्प आवश्यक तार्किक परिणति के रूप में उभरा है।

बॉक्स-1

विलयन तथा अधिग्रहण के सिद्धांत

विलयन तथा अधिग्रहण के पीछे कई कारण होते हैं। अधिग्रहण करनेवाली कंपनी लाभ कमानेवाले प्रचालन, कर-लाभ, प्रबधन या तकनीकी विशेषज्ञता से मिलनेवाले लाभों, उत्पाद-भिन्नता आदि की दृष्टि से ऐसा करती है। बेचनेवाली कंपनी अतिरिक्त वित्त, मार्केटिंग या तकनीकी बदलावो की संभावना, अधिकतर स्टॉकधारकों द्वारा अपनी हिस्सेदारी बेचने की इच्छा, आकर्षक क्रय-प्रस्ताव या फिर अपना अस्तित्व बनाए रखने की खातिर ऐसा कर सकती है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण व्यापारिक इकाई की सोची-समझी रणनीति हो सकती है, जिसके तहत वह मौजूदा उत्पाद को छोडकर ऐसे नए उत्पाद से जुड़ना चाहता है, जो बदलते प्रतिस्पर्धात्मक और तुलनात्मक अंतरराष्ट्रीय माहौल में अधिक मुनाफेवाले साबित हो सकते है। अलबत्ता, विलयन तथा अधिग्रहण ने व्यापारिक फैसलो और सार्वजनिक नीति-निर्धारण के लिए महत्त्वपूर्ण मुद्दे उठाए हैं। विकास और प्रगति के विभिन्न चरणों से गुजरकर सामने आनेवाले ये कदम व्यापारिक फर्मो के लिए काफी महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं।

कार्यकुशलता के तर्को को संदिग्ध माननेवालों का मत है कि ऐसी कंपनियों के प्रदर्शन मे अधिग्रहण के बाद कोई सुधार नहीं आता। इसके अलावा शेयर धारकों को मिलनेवाला लाभ भी दरअसल उनके बीच की पूँजी का पुनर्वितरण ही है। एक अन्य मत के अनुसार, विलयन और अधिग्रहण सरीखी गतिविधियाँ सट्टेबाजों की जोड़-तोड़ का प्रतिफल होती हं, जो वास्तव में 'आमोद-प्रमोद में डूबे समाज' के उन्माद को दरशाती हैं। इस प्रकार की सट्टेबाजी संबंधी गतिविधियाँ ऋण बढाने के साथ-साथ इक्विटी का आधार कमजोर करती हैं, जो अंतत· आर्थिक अस्थिरता को जन्म देती हैं।

विलयन से अधिग्रहण करनेवाली तथा अधिगृहीत कंपनियों—दोनों को लाभ मिलता है। यदि उत्पाद और बाजार एक-दूसरे के पूरक हो तो विलयन तथा अधिग्रहण से दोनों को लाभ मिलता है। यदि दोनों कपनियाँ एक ही क्षेत्र में सक्रिय होती है तो इस प्रकार की गतिविधियों से प्रतिस्पर्धा कम करने या समाप्त करने में भी मदद मिलती है। जब घाटेवाली कंपनी को मुनाफा कमानेवाली कपनी के द्वारा अधिगृहीत किया जाता है तो इससे कर और घाटे मे कमी लाने में भी मदद मिलती है।

अधिग्रहण दोस्ताना या ईर्ष्यालु माहौल में हो सकते हैं। दोस्ताना अधिग्रहण/विलयन कपनियों के बीच मोल-भाव के बाद तय किए जाते हैं, परंतु ईर्ष्या या कडवाहट को जन्म देनेवाले ऐसे कदम प्राय· कपनी पर नियत्रण हितों को पुख्ता करने के इरादे से शेयरों के अधिग्रहण के जरिये उठाए जाते हैं। विलयन और अधिग्रहण से ऊर्जा-प्राप्ति की सभावना रहती है। इस प्रकार की ऊर्जा प्राय: कीमत घटाने मे मददगार होती हैं। परिमाण (स्केल) की अर्थव्यवस्था प्रौद्योगिकीय अर्थव्यवस्थाओं के जरिये औसत कीमत घटाने मे सहायक होती है, जो किसी उद्योग में संयंत्र के न्यूनतम आकार को प्रभावित करती है या फिर प्रबंधकीय अर्थव्यवस्थाएँ उत्पादन तथा वितरण कीमतों को घटाती हैं। संभावना (स्कोप) की अर्थव्यवस्थाएँ प्राय· उत्पादों की संख्या में बढ़ोतरी से प्रेरित होती हैं।

उधर वित्तीय ऊर्जा विलय होनेवाली इकाइयो की पूँजी की कीमतों पर विलयन के प्रभाव का नतीजा होती है। अर्थव्यवस्था मे आनेवाले उतार-चढावो के प्रति धीमी प्रतिक्रिया करनेवाली कंपनियो के अधिग्रहण से अधिग्रहण करनेवाली कंपनी को आय का निरंतर स्रोत प्राप्त होता है। एक अन्य कारण

अधिग्रहण करनेवाली कंपनी के प्रबंधन का यह विश्वास भी हो सकता है कि वह लक्षित कंपनी के संसाधनो का बेहतर ढंग से प्रबंध कर सकती है। इसके अलावा, लक्षित कंपनी का कर घाटा भी अधिग्रहण करनेवाली कंपनी के लिए लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

विलयन तथा अधिग्रहण गतिविधियाँ नई उत्पादन सुविधाएँ और नए ब्रांड बाजार में उतारने से पूर्व प्रतीक्षा-समय को घटाने, उत्पादन पोर्टफोलियो को मजबूत बनाने, आधारभूत अनुसंधान और विकास-खर्चों को दोगुना होने से रोकने के साथ-साथ शेयरधारक का मूल्याधार विस्तृत करने में भी सहायक होती हैं। इन गतिविधियों को 'बुद्धिमानी भरी कॉरपोरेट नीति' माना जाता है। जहाँ तक संसाधनों के उपयोग का प्रश्न है, तो कई बार आंतरिक विकास की बजाय विलयन अधिक कुशल कदम हो सकता है।

अलबत्ता, विलयन और अधिग्रहण गतिविधियों के साथ कुछ खतरे भी जुड़े हैं—मसलन, अधिगृहीत कंपनी के बारे में अपर्याप्त जाँच, अधिक बोली लगाना, काफी विस्तृत विविधीकरण, असंबद्ध क्षेत्रों की कंपनियों का अधिग्रहण वगैरह। इनसे प्राय: ऐसी गतिविधियों को प्रभावी तरीके से लागू करने के मार्ग मे काफी मुश्किलें खडी होती है।

भारत में विलयन और अधिग्रहण गतिविधियों में प्रगति

भारतीय उद्योग के पुनर्गठन की प्रक्रिया उदारीकरण के तुरत बाद शुरू नही हुई थी। दरअसल, सन् 1996 से उद्योग में आई मंदी ने भारतीय कॉरपोरेट इकाइयो का मुनाफा कम किया और अधिक प्रतिस्पर्धात्मकता के लिए उन्हें पुनर्गठन करने को प्रेरित किया। इसी प्रकार वे अपना आकार घटाने, गौण गतिविधियों को समाप्त करने तथा विलयन और अधिग्रहण के जरिये आधार को व्यापक बनाने के लिए प्रेरित हुईं। स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजनाओं की मदद से अतिरिक्त मानव शक्ति को कम करने की कोशिश की गई। साथ ही यह भी महसूस किया गया कि बडे आकार की कंपनियाँ ही बहुराष्ट्रीय कंपनियों की चुनौतियों से भलीभाँति निपट सकेंगी। इस लक्ष्य को पाने का एक रास्ता विलयन तथा अधिग्रहण ही था।

भगवती समिति की सिफारिश पर भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड ने सन् 1997 मे अधिग्रहण विनियमनों के मुद्दे को सरल बनाया। भगवती समिति रिपोर्ट ने अधिक पारदर्शिता, निष्पक्षता, सभी निवेशकों को बराबर समझने, समयबद्धता और सही सूचना देने, झूठी पेशकशों को रोकने तथा उल्लंघनों के खिलाफ कार्यवाही

करने पर जोर दिया है। अधिग्रहण संबंधी नियमो को निवेशको के अनुकूल बनाने के लिए इनमे संशोधन जारी हैं।

भारत में वित्तीय सस्थानो ने भारतीय उद्योगो मे विलयन तथा अधिग्रहण गतिविधियो को प्रोत्साहन देने तथा उनके लिए वित्त उपलब्ध कराने के लिए व्यापक नीति बनाने की पेशकश की है। इस दिशा मे नीतिगत एकरूपता बनाए रखकर विलयन तथा अधिग्रहण गतिविधियों को सहज बनाया जा सकता है।

सन् 1999-2000 के केंद्रीय बजट मे भी विलयन और अधिग्रहण गतिविधिया को सरल बनाने के लिए करो मे प्रावधान किए गए हैं। बजट में निहित प्रावधान यह सुनिश्चित करने के लिए किए गए हैं कि इस प्रकार होनेवाली बिक्री से मिलनेवाले लाभ को पूँजीगत लाभ माना जाए और उसपर उसी प्रकार कर लगाए जाएँ।

प्रस्तावित परिवर्तनों से पुनर्गठन के दौर से गुजर रहे बड़े व्यापारिक समूहो को लाभ मिलेगा। अनुकूल औद्योगिक नीतियों से भारतीय कॉरपोरेट जगत् की पुनर्गठन की प्रक्रिया को बल मिला है। अलबत्ता 'एग्जिट' नीति को औद्योगिक क्षेत्र के उदारीकरण के निकष पर परखने की जरूरत है। कॉरपोरेट जगत् पर उचित नियत्रण तथा अनुकूल 'एग्जिट' नीति से पुनर्गठन की प्रक्रिया विकास के अधिक अनुकूल बन सकेगी।

वित्त वर्ष 1998-99 के दौरान कुल 151 अरब रुपए मूल्य की विलयन/अधिग्रहण गतिविधियाँ साकार हुई। इनमे से आधी तो पिछली तिमाही मे ही लागू हुई थीं। पिछले वर्ष के 37 प्रस्तावों के मुकाबले इस वर्ष भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड के पास 66 पेशकश विचाराधीन हैं। सीमेंट, स्टील, कंप्यूटर, सॉफ्टवेयर, वित्त, फार्मास्युटिकल्स, उपभोक्ता वस्तुओं, खाद्य-उत्पादों, कृषि-रसायनो और कपड़ा क्षेत्र मे इन गतिविधियों का अधिक जोर रहा है। सन् 1999-2000 की पहली छमाही में 103.68 अरब रुपए के विलयन/अधिग्रहण सौदों को अंतिम रूप दिया गया। आमतौर पर ग्रुप कंपनियों ने व्यापारिक गतिविधियों को एकीकृत करने के लिए विलयन किया। इसी प्रकार होल्डिंग कंपनियो ने अपना निवेश सुरक्षित करने के लिए घाटा दिखा रही अपनी सहायक कंपनियों का अधिग्रहण किया। कुशल प्रबधन का लाभ उठाने के लिए घाटेवाली कंपनियो का विलय मुनाफा कमानेवाली कपनियों मे कर दिया गया। इन कंपनियों के साझा निदेशको ने विलयन को प्रभावी बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। नई कंपनियाँ गठित करने की बजाय मौजूदा कंपनियों अथवा मौजूदा क्षमताओं के अधिग्रहण के लिए बहुराष्ट्रीय कपनियों को साथ लिया गया। पिछले ढाई वर्षों के दौरान लगभग 400

कपनियों ने इक्विटा पुनर्गठन की प्रक्रिया मे हिस्सेदारी की है।

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का पुनर्गठन

सामान्य नीति

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के सदर्भ में सरकार की नीति सामरिक रूप से महत्त्वपूर्ण इकाइयो को मजबूत बनाने, गैर-महत्त्वपूर्ण इकाइयों में क्रमबद्ध ढंग से विनिवेश या नीतिगत बिक्री के जरिये उनका निजीकरण करने तथा कमजोर इकाइयो के पुनर्वास के लिए उपयुक्त उपाय करने की रही है। इन उपक्रमों के प्रदर्शन मे लबी अवधि के लिए सुधार की दृष्टि से पुनर्गठन की नीति के अंतर्गत शामिल गया है—1 औद्योगिक एवं वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (बी आई एफ आर.) की प्रक्रिया के तहत पुनर्जीवित करना, 2. वित्तीय पुनर्गठन (आवश्यकतानुसार), 3. सयुक्त उपक्रमों का गठन, 4 मानव शक्ति को तर्कसगत बनाना तथा 5. बोर्ड/प्रबधन को मजबूत बनाकर उचित नियंत्रण। ,

सहमति के करार (एम.ओ.यू.)

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को अधिक स्वायत्तता देने के साथ-साथ अपने लक्ष्यो और उपलब्धियों के प्रति उन्हें अधिक जवाबदेह बनाते हुए सन् 1988 से सरकार ने सहमति के करार की अवधारणा को स्वीकार किया है। इस उपाय से सकारात्मक नतीजे सामने आए है। उन उपक्रमों द्वारा हस्ताक्षरित सहमति के करारो का ब्योरा तालिका-6 में दिया गया है।

विनिवेश

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की इक्विटी की विनिवेश-प्रक्रिया मूलत: उन्हें बाजार-ताकतों के अनुशासन के अनुरूप ढालने तथा उनके प्रबंधन को अधिक पेशेवर और परिणामोन्मुख बनाने के लिए शुरू की गई थी। सरकार को विनिवेश के कार्यक्षेत्र, उपयुक्त नीति, प्रक्रिया, समय आदि के बारे में सलाह देने के लिए अगस्त 1996 में विनिवेश आयोग का गठन किया गया था। आयोग ने अगस्त 1998 तक 8 रिपोर्ट दाखिल कीं, जिनमें सार्वजनिक क्षेत्र के 43 उपक्रमों के बारे में सिफारिशें की गई थीं। वे सिफारिशें निम्नलिखित हैं—

1. सार्वजनिक क्षेत्र के 19 उपक्रमों में नीतिगत बिक्री के जरिये विनिवेश।
2. 6 उपक्रमो में व्यापारिक बिक्री।
3. जी.डी आर के माध्यम से बिक्री की पेशकश और 5 उपक्रमों के लिए घरेलू मार्ग।

तालिका-6
सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के सहमति-पत्रों का वर्षगत विवरण

(नबर)

वर्ष	पी.एस.ई. द्वारा हस्ताक्षरित करार	पी.एस.ई. मूल्यांकन	सर्वोत्तम	अति उत्तम	उत्तम	साधारण	खराब
1991-92	71	59	21	25	10	3	-
1992-93	98	67	28	22	10	7	-
1993-94	101	97	46	29	12	10	-
1994-95	106	67	39	26	-	-	2
1995-96	104	103	51	31	7	12	2
1996-97	110	110	46	27	19	11	7
1997-98	108	108	45	25	13	21	4
1998-99	109	-	-	-	-	-	-

4 1 उपक्रम मे कोई निवेश नही।

5 8 उपक्रमों मे निवेश टालना तथा

6 4 उपक्रमों को बंद करना।

इनमें से कई सिफारिशों पर अमल किया जा चुका है, जबकि शेप मामले सरकार के समक्ष विचाराधीन हैं।

वित्त वर्ष 1998-99 के दौरान सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के 4 उपक्रमो में इक्विटी के विनिवेश को मजूरी दी। ये हैं—इंडियन ऑयल कारपोरेशन (आई ओ.सी), गैस अथॉरिटी ऑफ इंडिया लिमिटेड (गेल), विदेश संचार निगम लिमिटेड (वी.एस.एन.एल.) और कंटेनर कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड (कॉनकॉर)। सरकार मॉडर्न फूड इंडस्ट्रीज लिमिटेड (एम.आई.एल एल.), भारत अल्युमीनियम कारपोरेशन लिमिटेड (बाल्को), इंडियन टूरिज्म डेवलपमेंट कॉरपोरेशन (आई.टी डी सी) और कुद्रमुख आयरन ओर कंपनी लिमिटेड (के आई.ओ सी एल) मे भी सामरिक गठजोड़/बिक्री के जरिये विनिवेश कर रही है।

सन् 1991-92 से 1998-99 की अवधि में सरकारी इक्विटी के विनिवेश के जरिये 18,698 करोड़ रुपए की वसूली की गई है (तालिका-7)। सन् 1999-2000 के केंद्रीय बजट मे सार्वजनिक उपक्रमों के 10,000 करोड़ रुपए मूल्य के

शेयरों का विनिवेश का प्रस्ताव रखा गया था। इसमें से अप्रैल-सितंबर 1999 के दौरान 460 करोड़ रुपए की वसूली कर ली गई है।

तालिका-7

विनिवेश-प्राप्तियों का वर्षगत विवरण

(करोड़ रु में)

वर्ष	विनिवेश-प्राप्ति	
	बजट आकलन	वास्तविक
1991-92	2,500	3,038
1992-93	2,500	1,961
1993-94	3,500	-48
1994-95	4,000	5,607 *
1995-96	7,000	1,397 *
1996-97	5,001	455 *
1997-98	4,800	912
1998-99	9,006	5,376 * (अ)
1999-2000	10,000	460 **

अ अस्थायी।

स्वायत्तता

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की कार्यकुशलता बढ़ाने और उन्हें अधिक प्रतिस्पर्धी बनाने के लिए सरकार ने मुनाफा कमानेवाले उपक्रमों को अलग-अलग दर्जे की स्वायत्तता प्रदान की है। इस स्वायत्तता के आधार पर इन उपक्रमों को नवरत्नों तथा लघु-नवरत्नों का दर्जा प्रदान किया गया है।

नवरत्न

सरकार ने सन् 1998-99 (बॉक्स-2) तक नवरत्न श्रेणी के लिए 11 उपक्रमों को चुना है। इन उपक्रमों को कुछ दिशा-निर्देशों के तहत पूँजी व्यय करने,

---

* सन् 1994-95, 1995-96, 1996-97 तथा 1998-99 के बोनस शेयर क्रमश 530 करोड़ रु, 1,035 करोड़ रु, 75 करोड़ रुपए और 6 करोड़ रुपए शामिल हैं।

** सितंबर '99 तक।

सयुक्त उपक्रम लगाने और विदेशो मे प्रौद्योगिकी तथा सामरिक गठबधन के उद्देश्य से सहायक कार्यालय स्थापित करने संबंधी फैसले लेने की पूरी आजादी है।

बॉक्स-2

नवरत्नों की सूची

1 इंडियन ऑयल कारपोरेशन (आई ओ सी)
2 इडियन पेट्रोकेमिकल्स कॉरपोरेशन लिमिटेड (आई पी सी एल)
3 ऑयल एंड नेचुरल गैस कॉरपोरेशन (ओ एन जी सी.)
4 भारत पेट्रोलियम कॉरपोरेशन लिमिटेड (बी.पी सी एल)
5. हिदुस्तान पेट्रोलियम कॉरपोरेशन लिमिटेड (एच पी सी.एल)
6 नेशनल थर्मल पॉवर कॉरपोरेशन (एन टी.पी सी)
7 स्टील अॅथारिटी ऑफ इडिया लिमिटेड (सेल)
8 विदेश सचार निगम लिमिटेड (वी एस.एन एल)
9 भारत हेवी इलेक्ट्रिकल लिमिटेड (बी एच ई.एल)
10 गेस अथॉरिटी ऑफ इडिया लिमिटेड (जी ए आई एल)
11 महानगर टेलीफोन निगम लिमिटेड (एम टी.एन.एल)

लघु रत्न

सरकार ने अन्य कई लाभ अर्जित करनेवाले उद्यमों को भी वित्तीय, प्रबंधन तथा परिचालन के मामले मे अधिक स्वायत्तता प्रदान की है। इन्हें लघु-रत्नो का दर्जा दिया गया है। ऐसे उपक्रमों के लिए पिछले 3 वर्षो के दौरान लगातार लाभ कमाने के अलावा सकारात्मक साख रखना, सरकार से आर्थिक सहयोग या गारटी की अपेक्षा नहीं रखना, सरकार को देय ऋणो/ब्याज आदि की गैर-अदायगी न करना आदि शर्तो का पालन करना आवश्यक है। ये उपक्रम निर्धारित दिशा-निर्देशों का पालन करते हुए पूँजीगत खर्चे करने, सयुक्त उपक्रम लगाने, प्रौद्योगिकीय और सामरिक गठबधन करने, मानव-संसाधन प्रबंधन संबंधी योजनाएँ तैयार करने के लिए स्वतत्र हैं।

राष्ट्रीय नवीनीकरण कोष

सरकार ने औद्योगिक पुनर्गठन, प्रौद्योगिकी के उन्नतीकरण तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को मानवीय स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से कर्मियों के सुरक्षा कवच के तौर पर सन् 1992 में 'राष्ट्रीय नवीनीकरण कोष' का गठन

किया था इस कोष की मदद स अब तक कद्र क सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो मे स्वेच्छिक सेवानिवृत्ति योजना (वी आर एस) लागू की गई है। इस योजना का दायरा बढ़ाकर कर्मचारियों को सलाह देने, प्रशिक्षित करने, दोबारा नौकरी पर रखवाने आदि कार्य भी इसमें शामिल किए गए है। इस सिलसिले मे 16 राज्यों मे विभिन्न स्थानों पर कर्मचारी सहायता-केद्र खोले गए हैं। स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजना के लिए 31 अक्तूबर, 1998 तक कुल 2,029.84 करोड़ रुपए की राशि केंद्रीय सार्वजनिक उपक्रमो के 1,25,184 कर्मचारियो के लिए जारी की गई।

तालिका-8

राष्ट्रीय नवीनीकरण कोष का वर्षवार वितरण

(करोड रु)

वर्ष	एन.आर.एफ. को आवंटित राशि	सार्वजनिक खाते में स्थानांतरित राशि
1991-92	200 00	–
1992-93	829 66	829.66
1993-94	1,020 00	700.00
1994-95	500.00	100 00
1995-96	–	140 00
1996-97	250 00	150 00
1997-98	306 91	306.91
1998-99	300 00	278 00

राज्यों के सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम

राज्यों के सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ उपक्रमों, जैसे—सड़क यातायात और बिजली बोर्डों को छोड़कर कई में पुनर्गठन की प्रक्रिया लगभग नदारद है। इनमे से अधिकतर उपक्रम बीमार घोषित हो चुके हैं या होने के कगार पर हैं। इनकी अकुशलता के कारण राज्यों के वित्तीय संसाधनों पर बोझ बढ़ गया है। ऐसी स्थिति मे इन उपक्रमों के पुनर्गठन की सख्त जरूरत है। कुछ राज्यो ने पहले ही इस दिशा मे उपाय शुरू कर दिए हैं। उड़ीसा ऐसा पहला राज्य था, जिसने 1 अप्रैल, 1996 को उड़ीसा बिजली सुधार अधिनियम, 1995 लागू कर बिजली क्षेत्र में सुधार प्रक्रिया शुरू की। हरियाणा, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, कर्नाटक और गुजरात ने भी इस क्षेत्र में सुधार शुरू किए हैं। इसी प्रकार

अलबत्ता इलेक्ट्रॉनिक्स, कंप्यूटर सॉफ्टवेयर, प्रिंटिंग आदि गैर-प्रदूषक इकाइयाँ ऐसे शहरों के 25 किलोमीटर के सीमा क्षेत्र के भीतर स्थापित की जा सकती थीं। अन्य उद्योगों को 25 जुलाई, 1991 से पहले निर्धारित औद्योगिक क्षेत्रों में ही लगाया जा सकता है।

बॉक्स-4

सार्वजनिक क्षेत्रों के लिए आरक्षित उद्योगों की सूची

1. हथियार तथा गोला-बारूद और रक्षा-उपकरणों से संबंधित सामान, रक्षा एयरक्राफ्ट और युद्धपोत।
2. आणविक ऊर्जा।
3. भारत सरकार के आणविक ऊर्जा विभाग की अधिसूचना संख्या एस.ओ 212 (ई) दिनांक 15 मार्च, 1995 में उल्लिखित पदार्थ।
4. रेलवे यातायात।

पूर्वोत्तर के लिए विशेष नीतिगत पैकेज

सरकार ने पूर्वोत्तर क्षेत्रों के लिए सन् 1997-98 के दौरान नई औद्योगिक नीति तैयार की है, ताकि इस क्षेत्र में औद्योगिक क्षेत्र में जारी विकास की कम रफ्तार से प्रभावी तरीके से निपटा जा सके। इस क्षेत्र के औद्योगीकरण के लिए इस नीति पर सक्रिय रूप से अमल किया जा रहा है।

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश नीति

सरकार बेहतर प्रौद्योगिक, आधुनिकीकरण, निर्यात और अंतरराष्ट्रीय स्तर के उत्पादों तथा सेवाओं के लिए प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ डी आई.) का प्रवाह बढाने के लिए कृतसंकल्प है। इसलिए सरकार की नीति विदेशी निवेश को प्रोत्साहन देने की रही है। इस दिशा में सरकार का प्रयास नीतियों एवं प्रक्रियाओ को अधिक पारदर्शी बनाने तथा अधिक गतिशील और निवेशकोन्मुख नीतिगत तंत्र तैयार करना है। इसके साथ ही घरेलू उद्योग को प्रतियोगिता के समान अवसर उपलब्ध कराने और राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए लाभांश-संतुलन, विदेशी विनिमय निष्पक्षता, विदेशी इक्विटी पूँजी इत्यादि की शक्ल में समानांतर उपाय भी किए गए हैं। एफ.डी.आई. नीति की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. एफ.डी.आई. मंजूरी के दो तरीके तय किए गए हैं—(क) भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा स्वतः मंजूरी तथा (ख) विदेशी निवेश संवर्धन बोर्ड (एफ.आई.बी.पी.)/सरकार द्वारा मंजूरी।

2 राष्ट्रीय औद्योगिक वर्गीकरण के आधार पर चिह्नित 34 श्रेणियो/उच्च प्राथमिकतावाले उद्योग समूहों के लिए 50/51/74/100 प्रतिशत एफ.डी.आई. को स्वतः मजूरी।

3 विद्युत् उत्पादन, प्रेषण और वितरण तथा राजमार्गो, सुरगों (वाहनो क लिए), पुलो, बंदरगाहो, सड़को के निर्माण और रखरखाव सबधी परियोजनाओ के लिए स्वचालित मार्गो के तहत शत प्रतिशत विदेशी इक्विटी भागीदारी को मजूरी।

4 विदेशी निवेश संवर्धन बोर्ड के लिए छह सप्ताह की समय-सीमा के भीतर एफ.डी आई संबंधी आवेदनो का निपटारा करना आवश्यक।

5 कृषि, सपत्ति तथा बीमा क्षेत्र में एफ डी आई को मजूरी नहीं।

6 कुछ क्षेत्रो मे मूल निवेश और प्राप्तियो (लाभांश सतुलन और विदेशी विनिमय निष्पक्षता के अलावा) पूरी वापसी।

7 विदेशी प्रौद्योगिकी तक आसान पहुँच। 20 करोड़ अमेरिकी डॉलर तक के भुगतान और घरेलू बिक्री पर 5 प्रतिशत तथा निर्यात पर 8 प्रतिशत की दर से रॉयल्टी के लिए स्वतः मजूरी।

8 घरेलू ऋण तक आसान पहुँच। भारत में निवेश करनेवाली विदेशी कपनियाँ भी घरेलू वित्तीय सस्थानों से घरेलू ऋण लेकर अपनी क्षमता बढा सकती हैं।

9 बाहरी व्यावसायिक ऋण तथा ऋण-भुगतान की उदार शर्ते।

10 ग्लोबल डिपॉजेटरी रिसीट (जी.डी आर), अमेरिकन डिपॉजेटरी रिसीट (ए डी आर) तथा 'फॉरेन करसी कवर्टिबल बॉड्स' (एफ सी सी बी) में वृद्धि की कोई ऊपरी सीमा नहीं।

ात तंत्र

सरकार ने ढाँचागत तंत्र के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी है। सरकार मका की परिभाषा परिसपत्तियों के स्वामी से बदलकर सेवा-प्रदाता की गई हे, ताकि निजी क्षेत्र की भागी मे ढाँचागत सेवाओं का विकास सुनिश्चित ना सके। सरकार ने कुशल ढाँचागत तंत्र के लिए पिछले कुछ वर्षों में कई उठाए हैं। सभी प्रमुख ढाँचागत क्षेत्रों को निजी क्षेत्र की परियोजनाओं क हले ही खोल दिया गया है तथा विद्युत् उत्पादन, दूरसचार सेवाओ, बंदरगाहो, और हवाई अड्डों के क्षेत्र में कई निजी क्षेत्र की परियोजनाएँ लागू की हैं। दूरसंचार नीति में हाल में किए गए बदलावों की जानकारी बॉक्स-5

। दी जा रही हैं—

बॉक्स-5

नई दूरसचार नीति की घोषणा मार्च 1999 में की गई। इसके तहत बुनियादी तथा मूल्यवर्धित सेवाओ के मौजूदा लाइसेंस को 1 अगस्त, 1999 से राजस्व बॅटवारा व्यवस्था के अतर्गत मजूरी दी गई है। नई व्यवस्था को चुनने की स्थिति में, अंतरिम उपाय के तौर पर बुनियादी तथा सेल्युलर टेलीकॉम ऑपरेटरो को उस स्थिति में लाइसेस फीस के रूप में अपने कुल राजस्व के 15 प्रतिशत का भुगतान करना पड़ेगा, जब भारतीय दूरसंचार विनियमन प्राधिकरण (ट्राई) राजस्व बॅटवारे का प्रतिशत निर्धारण नहीं कर पाता।

नई नीति में मौजूदा शेयरधारको को लाइसेस समझौते की तारीख से अगले 5 साल तक अपने शेयर बेचने की छूट नहीं होगी। इस अवधि मे शेयरो के हस्तातरण की भी इजाजत नही दी जाएगी। नीति मे इक्विटी विस्तार के जरिये नए निवेशको को शामिल करने का प्रावधान है, परतु वर्तमान निवेशक इस व्यवस्था को छोड़कर नहीं जा सकेगे।

सेल्युलर सेवाओ के सदर्भ में यह व्यवस्था की गई है कि दोनो ऑपरेटरों को या तो राजस्व बॅटवारा व्यवस्था को चुनना होगा अथवा पुरानी लाइसेंस फीस व्यवस्था का पालन करना होगा। नई व्यवस्था के अनुसार राजस्व बँटवारा व्यवस्था को चुननेवाले ऑपरेटरों को मौजूदा द्वि-अधिकार प्रणाली की बजाय बहु-अधिकार प्रणाली को स्वीकार करना पड़ेगा। नई नीति के तहत यह व्यवस्था की गई है कि सरकार (बतौर लाइसेस प्रदानकर्ता) और लाइसेस प्राप्तकर्ताओं के बीच विवाद को सुलझाने में ट्राई की अहम भूमिका होगी। नए लाइसेंस देने के समय और सख्याओं के बारे में सरकार ट्राई से मशविरा करेगी। अलबत्ता, कार्यप्रणाली के संदर्भ में ट्राई से सलाह लेना सरकार के लिए आवश्यक होगा।

दूरसचार विभाग की नीतियों तथा लाइसेंसिंग कार्यतत्र को अलग करने के बाद तैयार अलग दूरसचार सेवा विभाग को 2001 तक कॉरपोरेट स्वरूप दे दिया जाएगा।

भारतीय रिजर्व बैंक ने ढाँचागत क्षेत्र के लिए ऋण-वितरण में तेजी लान हेतु अप्रैल 1999 में नए दिशा-निर्देश जारी किए। इन दिशा-निर्देशों के तहत ढाँचागत परियोजनाओं आदि के लिए वित्त जुटाने आदि मुद्दे भी शामिल कि

गए भारतीय रिजर्व बैंक की अक्तूबर 1999 म जारी मौद्रिक तथा ऋण नीति घोषणा मे बैंकों द्वारा किसी एक परियोजना (विद्युत् परियोजनाओं के लिए 1,000 करोड़ रुपए तथा अन्य परियोजनाओं के लिए 500 करोड़ रुपए) के लिए स्वीकृत ऋण की ऊपरी सीमा संबंधी शर्त भी समाप्त कर दी गई है। बैक अब अपने विवेकाधिकार के अनुसार तय ऊपरी सीमा का पालन करते हुए ढाँचागत परियोजनाओं के लिए अवधि ऋणों को मंजूरी दे सकते हैं। बैंक अब ग्रुप एक्सपोजर नार्भ के अतर्गत 50 प्रतिशत सीमा में 10 प्रतिशत तक बढोतरी कर सकते हैं, बशर्ते अतिरिक्त व्यवस्था ढाँचागत परियोजनाओं के वित्त-पोषण के लिए की जाए।

आवास

आवास-विकास को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से सरकार ने कई बड़े कदम उठाए हैं। इसके अतर्गत शहरी भूमि (ऊपरी सीमा और विनियमन) अधिनियम को निरस्त करना भी शामिल है। इस क्षेत्र के लिए ऋण-राशि के प्रवाह मे सुधार के लिए सन् 1999-2000 के केंद्रीय बजट में निम्न उपायों की घोषणा की गई—

1. आवासों को गिरवी रखने की दृष्टि से प्राथमिक तथा गौण बाजारो के विकास के लिए नेशनल हाउसिग बैंक अधिनियम मे सुधार।
2. आवास के क्षेत्र मे सक्रिय वित्तीय कपनियों को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से गैर-उत्पादक परिसंपत्तियो मे प्राप्त आय पर कर संबंधी दृष्टिकोण मे बदलाव।
3. आवास क्षेत्र के लिए बैंक ऋणों की उपलब्धता में सुधार के उद्देश्य से व्यावसायिक बैंकों को अपनी जमाराशि में से 3 प्रतिशत तक उपलब्ध कराने के निर्देश दिए गए।
4. नेशनल हाउसिंग बैंक द्वारा स्वर्ण जयंती ग्रामीण आवास वित्त योजना के अंतर्गत आवासीय इकाइयो की संख्या सन् 1999-2000 के दौरान बढ़ाकर 1.25 लाख कर दी गई।

लघु क्षेत्र के उद्योग

लघु क्षेत्र के उद्योगों के लिए ऋण-उपलब्धता में सुधार की दृष्टि से सन् 1999-2000 के केंद्रीय बजट में निम्नलिखित उपाय किए गए—

1. संयोजित ऋणों की राशि 2 लाख रुपए से बढ़ाकर 5 लाख रुपए की गई (छोटे ऋणधारकों को व्यावसायिक बैंकों तथा एस आई डी बी.आई द्वारा उपलब्ध कराए जानेवाले ऋण।)
2. कामचलाऊ पूँजी सीमा की गणना के लिए वार्षिक टर्न ओवर सीमा को

5 करोड़ रुपए करने का प्रस्ताव।

3 अत्यंत लघु क्षेत्रों तक बैंकों की पहुँच बढ़ाने के लिए इस क्षेत्र को भी बैंक-ऋणों की दृष्टि से प्राथमिकता क्षेत्र की परिभाषा के दायरे मे लाना।

4 ऋणों की वसूली तथा सुरक्षा की दृष्टि से नई ऋण बीमा योजना शुरू की जाएगी।

अत्यंत लघु क्षेत्र

अत्यंत लघु क्षेत्रों की परिभाषा को विस्तार देते हुए इसके लिए संयंत्रों तथा मशीनरी पर निवेश राशि 5 लाख रुपए से बढ़ाकर 25 लाख रुपए कर दी गई, ताकि इस क्षेत्र मे आधुनिकीकरण तथा प्रौद्योगिकी को उन्नत करने में मदद मिल सके। बैंक-ऋणों के मामले मे लघु क्षेत्रो के अतर्गत प्राथमिकता क्षेत्र के लिए निर्धारित ऋणों का 60 प्रतिशत अत्यंत लघु क्षेत्र के लिए तय किया गया है। इसके अलावा लघु उद्योग क्षेत्र के लिए उत्पाद शुल्क मे छूट की सीमा भी 1 जून, 1998 से 30 लाख रुपए से बढ़ाकर 50 लाख रुपए की गई है। एकीकृत ढाँचागत विकास योजना के अंतर्गत कम-से-कम 40 प्रतिशत भूखंड अत्यत लघु इकाइयों को आवंटित करने का फैसला किया गया है। इसी प्रकार राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम को अत्यत लघु क्षेत्र की इकाइयो के लिए मशीनरी की खरीद-फरोख्त, मार्केटिंग सहयोग, प्रौद्योगिकी सहयोग, प्रशिक्षण सुविधाओ आदि के लिए 40 प्रतिशत सहायता राशि उपलब्ध कराने को कहा गया है।

औद्योगिक क्षेत्र का प्रदर्शन (1998-99 के दौरान)

कुल

औद्योगिक उत्पाद की सूचकांक संख्या (आधार : 1993-94=100) के अनुसार भारतीय उद्योग ने सन् 1998-99 मे काफी कम, अर्थात् 4 प्रतिशत की विकास-दर दर्ज कराई, जबकि पिछले वर्ष यह दर 6 6 प्रतिशत रही थी। विचाराधीन वर्ष के दौरान निर्माण क्षेत्र की विकास-दर 4 4 प्रतिशत रही, जबकि उससे पिछले वर्ष यह दर 6 7 प्रतिशत रही थी। खनन तथा खुदाई क्षेत्र में भी सन् 1997-98 मे 5 9 प्रतिशत की सकारात्मक विकास-दर के मुकाबले 1.8 प्रतिशत तक कमी आई। सन् 1997-98 मे 6.6 प्रतिशत की तुलना में सन् 1998-99 में विद्युत्-उत्पादन में 6.4 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई (परिशिष्ट तालिका-1)। संपूर्ण औद्योगिक उत्पादन में धीमी गति का कारण माँग मे कमी, संरचनात्मक क्षेत्र मे

अपर्याप्त निवेश, पूजी बाजार की कमजार स्थिति और कुछ हद तक कारपोरेट पुनर्सरचना की प्रक्रिया रही है।

निर्माण क्षेत्र

सन् 1998–99 के दौरान निर्माण क्षेत्र मे सत्रह समूहों मे से 51 41 प्रतिशत के सयुक्त वजनवाली दस श्रेणियों की विकास–दर कम हुई या नकारात्मक रही। 32 61 प्रतिशत सयुक्त वजन के पॉच समूहों की विकास–दर में कमी दर्ज की गई। इनमे प्रमुख क्षेत्र रहे—बेवरेज (पेय), तंबाकू तथा तंबाकू उत्पाद। उधर 18 8 प्रतिशत के संयुक्त वजनवाले पॉच समूहो—आधारभूत धातु तथा मिश्रित धातु उद्योग, टेक्सटाइल उत्पाद, लकड़ी और लकडी–उत्पाद, फर्नीचर, जूट तथा अन्य रेशायुक्त टेक्सटाइल (कपास को छोडकर) और सूती टेक्सटाइल के क्षेत्रो में भी नकारात्मक विकास–दर दर्ज की गई। अलबत्ता, इसी अवधि में 7 समूहो ने बेहतर विकास–दर का प्रदर्शन किया। ये हैं—धातु उत्पाद तथा हिस्से (मशीनरी और उपकरण को छोडकर), कागज और कागज उत्पाद तथा मुद्रण, प्रकाश एव सबद्ध उद्योग, परिवहन उपकरण और हिस्से, रबर, प्लास्टिक, पेट्रोलियम एवं कोयला उत्पाद, चमड़ा एवं चमड़ा तथा फर उत्पाद, अन्य निर्माण उद्योग तथा खाद्य उत्पाद (परिशिष्ट तालिका–2)।

प्रयोग-आधारित वर्गीकरण

सन् 1998–99 के दौरान पूंजीगत वस्तुओ के क्षेत्र में पिछले वर्ष की 5 3 प्रतिशत की विकास–दर के मुकाबले 12.7 प्रतिशत की दर दर्ज की गई। अन्य सभी समूहों ने कम विकास–दर का प्रदर्शन किया। इस वर्ष बुनियादी, मध्यवर्ती तथा उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्रों की भी विकास–दर कम रही।

हाल का प्रदर्शन (अप्रैल-सितंबर 1999-2000)

कुल

वित्त वर्ष 1999–2000 के दौरान औद्योगिक क्षेत्र के प्रदर्शन मे निश्चित रूप से बदलाव देखा गया। उपलब्ध संकेतों के आधार पर कहा जा सकता है कि बिक्री और मुनाफे की दृष्टि से कुछ कॉरपोरेट घरानो का प्रदर्शन पहली छमाही में शानदार रहा, जिससे लंबे समय से छाई मंदी का माहौल कुछ हद तक छँटा। निर्माण क्षेत्र ने 6 8 प्रतिशत की शानदार विकास–दर दर्ज की, जो इससे पिछले वर्ष इसी अवधि मे दर्ज 4 1 प्रतिशत के ऑकडे के मुकाबले बेहतर रही। खनन और खुदाई क्षेत्र मे अप्रैल–सितबर 1998–99 के दौरान 0 4 प्रतिशत की नकारात्मक विकास–दर की

तुलना में 0 4 प्रतिशत की मामूली बढ़ोतरी दर्ज की गई। विद्युत्-उत्पादन के क्षेत्र मे विकास-दर 7.7 प्रतिशत रही, जो पिछले वर्ष इसी अवधि मे दर्ज 7 4 प्रतिशत से बेहतर रही (परिशिष्ट तालिका-1)।

प्रयोग-आधारित वर्गीकरण:

2 अकीय 17 औद्योगिक समूहों मे मे 11 ने अप्रैल-सितबर, 1999-2000 की अवधि में सकारात्मक विकास-दर दर्ज की। गैर-धातु खनिज उत्पादों का विकास सर्वाधिक रहा और उनके बाद मशीनरी उपकरणो (परिवहन उपकरणो तथा कागज और कागज उद्योगों एवं मुद्रण, प्रकाशन और सबंधित उद्योगों को छोड़कर) का स्थान रहा। इधर लकड़ी और लकड़ी उत्पादो, फर्नीचर आदि में सबसे अधिक गिरावट देखी गई। 17 औद्योगिक समूहो मे से 8 समूहों ने विकास में तेजी दर्ज कराई, जबकि 3 समूहों में गिरावट देखी गई और शेष 6 समूहों ने नकारात्मक विकास किया (परिशिष्ट तालिका-2)।

प्रयोग-आधारित वर्गीकरण

पूँजीगत वस्तुओ ने अप्रैल-सितबर 1999-2000 के दौरान 9 2 प्रतिशत की धीमी रफ्तार से विकास दर्ज किया, जबकि अप्रैल-सितंबर 1998-99 के दौरान यह दर 11 1 प्रतिशत रही थी। मध्यवर्ती वस्तुओं के क्षेत्र में अप्रैल-सितबर 1999-2000 मे विकास-दर अधिक, अर्थात् 9 1 प्रतिशत रही, जबकि पिछले वर्ष इसी अवधि मे यह 5 6 प्रतिशत रही थी। उपभोक्ता वस्तुओ के क्षेत्र ने 4 प्रतिशत का विकास दरशाया, जबकि पिछले वर्ष की इसी अवधि के दौरान यह मात्र 1 8 प्रतिशत रहा। अलबत्ता, बुनियादी वस्तुओं ने अप्रैल-सितबर 1999-2000 मे 5 1 प्रतिशत विकास का ऑकडा दर्ज किया, जबकि पिछले वर्ष यह ऑकड़ा 2 5 प्रतिशत ही रहा था (परिशिष्ट तालिका-3)।

सापेक्ष योगदान

तीन क्षेत्रों में से निर्माण क्षेत्र को योगदान अप्रैल-सितंबर 1998-99 मे 82 9 प्रतिशत रहने के बाद चालू वर्ष मे 87 2 प्रतिशत हो गया। विद्युत् क्षेत्र का योगदान अप्रैल-सितबर 1999-2000 मे घटकर 12 2 प्रतिशत हो गया, जबकि पिछले वर्ष की इसी अवधि में यह 18.1 प्रतिशत रहा था। अलबत्ता, खनन क्षेत्र का योगदान अप्रैल-सितंबर 1998-99 में 0.9 प्रतिशत के नकारात्मक योगदान के मुकाबले मामूली रूप से बढ़कर अप्रैल-सितंबर 1999-2000 मे 0 6 प्रतिशत दर्ज किया गया।

उपलब्ध संकेतक से लगता है कि औद्योगिक क्षेत्र के प्रदर्शन मे हो रहा

सुधार जारी रहेगा। गैर-खाद्य ऋणो के क्षेत्र मे मौजूदा वित्त वर्ष में 22 अक्तूबर, 1999 तक 18,211 करोड रुपए का निश्चित उठान देखा गया है, जबकि पिछले वर्ष यह 9,498 करोड़ रुपए रहा था। व्यावसायिक क्षेत्र मे ऋणो का कुल प्रवाह बढकर 25,699 करोड़ रुपए हो गया, जबकि पिछले वर्ष की इसी अवधि मे इसमे 18,227 करोड़ रुपए की बढ़ोतरी दर्ज की गई थी। चालू वर्ष में अब तक कॉरपोरेट क्षेत्र की कामचलाऊ पूँजी आवश्यकताएँ भी बढ़ी हैं। ब्लू चिप कपनियो (अर्थात् जिनकी कामचलाऊ पूंजी सीमा 10 करोड रुपए हैं) के लिए 31 अक्तूबर, 1999 तक 32,045 करोड़ रुपए की अतिरिक्त कामचलाऊ पूँजी को मंजूरी दी जा चुकी है, जबकि पिछले वर्ष इसी अवधि मे यह राशि 25,251 करोड़ रुपए रही थी।

ढाँचागत उद्योगों का प्रदर्शन

छह ढाँचागत उद्योगों—विद्युत्, कोयला, विक्री योग्य स्टील, सीमेंट, पेट्रोलियम कच्चा तथा पेट्रोलियम रिफाइनरी उत्पाद (आई आई पी. मे वजन · 26.7 प्रतिशत) के संयुक्त सूचकांक (आधार . 1993-94=100) ने सन् 1998-99 के दौरान 2 7 प्रतिशत की धीमी रफ्तार से विकास दर्ज किया, जो सन् 1997-98 के 5 7 प्रतिशत के ऑकड़े से कम रहा। उद्योगों मे पेट्रोलियम रिफाइनरी उत्पादो मे सन् 1998-99 के दौरान तेजी आई (परिशिष्ट तालिका-4)।

अप्रैल-सितंबर 1999-2000 की अवधि में छह ढाँचागत उद्योगों का कुल विकास 6 7 प्रतिशत रहा, जबकि इसमे पिछले वर्ष की इसी अवधि के दौरान यह ऑकड़ा 3 4 प्रतिशत रहा था। इस अवधि मे पेट्रोलियम रिफाइनरी उत्पादो की विकास-दर सर्वाधिक 19 1 प्रतिशत रही, जबकि पिछले वर्ष की इसी अवधि मे यह दर 1 7 प्रतिशत रिकॉर्ड की गई थी। सीमेंट उत्पादन की विकास- दर 18 8 प्रतिशत रही, जबकि पिछले वर्ष इसी अवधि मे यह 4.2 प्रतिशत रही थी। बिक्री योग्य स्टील के उत्पादन की विकास-दर अप्रैल-सितंबर 1999-2000 के दौरान 4 3 प्रतिशत थी, जबकि अप्रैल-सितंबर 1998-99 में यह 2.6 प्रतिशत रही थी। विद्युत् क्षेत्र की विकास-दर मे मामूली गिरावट के बाद यह 7.4 प्रतिशत रही, जबकि पिछले वर्ष की इसी अवधि में यह 7.7 प्रतिशत थी। कोयला क्षेत्र ने 1 1 प्रतिशत का नकारात्मक विकास दर्ज किया, जबकि पिछले वर्ष की इसी अवधि में इस क्षेत्र ने 1.3 प्रतिशत का सकारात्मक विकास किया था।

चुनिंदा उद्योगों का प्रदर्शन

उभरते हुए चुनिंदा उद्योगों का प्रदर्शन इस प्रकार रहा—

सूचना प्रौद्योगिकी

सन् 1998–99 के दौरान भारत के सॉफ्टवेयर उद्योग ने 58 3 प्रतिशत का महत्त्वपूर्ण विकास दर्ज किया। नेशनल एसोसिएशन ऑफ सॉफ्टवेयर सर्विस कंपनीज (नासकॉम) के अनुसार, इसका वार्षिक राजस्व सन् 1997–98 में 10,040 करोड़ रुपए की तुलना मे 15,890 करोड़ रुपए बढ़ गया। अकेले सॉफ्टवेयर निर्यात से ही 10 940 करोड़ रुपए की आमदनी हुई, जबकि घरेलू सॉफ्टवेयर बाजार ने 4,950 करोड़ रुपए कमाए। समझा जाता है कि वाई–2के समस्या, ई–कॉमर्स आदि सूचना प्रौद्योगिकी आधारित सेवाएँ, यूरो मुद्रा परिवर्तन तथा उद्यम संसाधन नियोजन (ई आर.पी) आदि के कारण सॉफ्टवेयर उद्योग में तेजी आई। दरअसल, वाई–2के समस्या के निराकरण के बाद भी भारतीय सॉफ्टवेयर उद्योग आगे बढ़ता रहेगा। सरकारी कार्यालयों मे कंप्यूटरीकरण की तेज रफ्तार तथा वाई–2के समस्या के निराकरण के लिए खर्चों के कारण सन् 1998–99 में घरेलू सॉफ्टवेयर बाजार ने लगभग 42 प्रतिशत की विकास–दर दर्ज कराई। सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग के महत्त्व को पहचानते हुए सरकार ने स्वतंत्र 'सूचना प्रौद्योगिकी विभाग' का गठन किया है। 14 प्रादेशिक सरकारों ने अपनी सूचना प्रौद्योगिकी नीति घोषित करने के साथ उच्च स्तरीय कार्य–बल का गठन किया है।

दूरसंचार

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास तथा उसे विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकात्म करने में कुशल एवं उन्नत दूरसंचार ढॉचागत तंत्र के महत्त्व को समझने के बाद इस क्षेत्र पर काफी ध्यान दिया जा रहा है। दूरसंचार–तंत्र को विस्तृत तथा उन्नत बनाने के लिए दूरसंचार विभाग और उसके अंतर्गत कार्यरत सगठनो द्वारा सेवाओ की उपलब्धता एवं गुणवत्ता सुनिश्चित करने हेतु प्रयास जारी हैं। सन् 1999–2000 के केंद्रीय बजट में दूरसंचार पर 16,801 करोड़ रुपए खर्च करने का प्रावधान किया गया, जो सन् 1998–99 के सशोधित अनुमान से 24 5 प्रतिशत अधिक है।

सन् 1988–89 से 1997–98 के दौरान 10 वर्षो की अवधि मे टेलीफोन एक्सचेंजों की सख्या 9,681 से बढ़कर 23,406 हो गई और नवंबर 1998 तक यह 23,624 तक पहुँच गई। उक्त दशक में टेलीफोन कनेक्शनों की संख्या भी 41 74 लाख से बढकर 178 02 लाख हो गई और इस प्रकार भारत का टेलीफोन तत्र आकार की दृष्टि से दुनिया भर में बारहवें स्थान पर पहुँच गया, जबकि उभरती अर्थव्यवस्थाओं वाले देशों के वर्ग मे उसका तीसरा स्थान रहा। इसी अवधि मे टेलीफोन सुविधायुक्त गॉवों की संख्या भी 27,316 से कई गुना बढ़कर 3,10,687

तक पहुँच गई। सन् 1998-99 के दौरान 37 92 लाख नए टेलीफोन कनेक्शन उपलब्ध कराए गए, जबकि सन् 1997-98 मे यह संख्या 32 59 लाख दर्ज की गई। इसी प्रकार गाँवो मे उपलब्ध कराए गए कनेक्शनो की सख्या मे भी पिछले वर्ष की तुलना मे 10 2 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई है। 31 दिसबर, 1998 को टेलीफोन घनत्व प्रति 100 व्यक्तियो पर 2 सीधी एक्सचेंज लाइन (डी.ई एल) रहा तथा सभी जिला मुख्यालयो को एस टी डी से जोड दिया गया। उधर सेल्युलर फोन सेवा के मोरचे पर मार्च 1999 के अत तक ही सेल्युलर तत्र का आधार 76,000 उपभोक्ताओं का हो गया था। उच्च रफ्तार फैक्स तथा फोटो-फोन सुविधा युक्त इंटीग्रेटेड सर्विसेज डिजिटल नेटवर्क (आई एस.डी एन.) सेवाएँ सन् 1997-98 के दोरान 6 और शहरो में भी उपलब्ध करा दी गई ओर इस प्रकार इनका दायरा कुल 17 कस्बो/शहरों तथा 1,211 उपभोक्ताओ तक बिस्तृत हुआ।

ऑटोमोबाइल्स

औद्योगिक विकास की तेज रफ्तार के लिए सुनियोजित परिवहन-तत्र आवश्यक पूर्व शर्त है। इस दृष्टि से भारतीय ऑटोमोबाइल उद्योग ने यात्री कारो, हलके, मध्यम तथा भारी व्यावसायिक वाहनो और बहु उपयोगी वाहनों को उपलब्ध कराकर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस उद्योग का सकल घरेलू उत्पाद (जी डी पी) मे योगदान सन् 1992-93 मे 2 8 प्रतिशत से बढ़कर सन् 1997-98 मे 4 4 प्रतिशत हो गया। इस क्षेत्र ने सन् 1997-98 मे 4 5 लाख लोगों को प्रत्यक्ष रूप से तथा लगभग 1 करोड की आबादी को परोक्ष तौर पर रोजगार उपलब्ध कराया।

सन् 1998-99 के दौरान व्यावसायिक वाहनों, कारों तथा उपयोगी वाहनो और तिपहिया वाहनों के उत्पादन मे काफी गिरावट आई। इनकी विकास-दर क्रमशः (-) 15 5 प्रतिशत, (-) 5.9 प्रतिशत एवं (-) 11 प्रतिशत दर्ज की गई। दुपहिया वाहनों के उत्पादन मे पिछले वर्ष की 3.1 प्रतिशत के मुकाबले 9 8 प्रतिशत की विकास-दर दर्ज की गई। उधर बिक्री के मोरचे पर भी व्यावसायिक वाहनों, कारो तथा उपयोगी वाहनों और तिपहिया वाहनों की विकास दर नकारात्मक रही, जबकि दोपहिया वाहनो ने अपनी बिक्री की रफ्तार बढ़ाई। निर्यात के मोरचे पर तिपहिया वाहनों के अलावा सभी श्रेणियो, जैसे—व्यावसायिक कारों, उपयोगी वाहनों और दोपहिया वाहनों में सन् 1998-99 के दौरान नकारात्मक विकास-दर दर्ज की गई।

सन् 1999-2000 के पहले पाँच महीनों के दौरान जहाँ एक ओर व्यावसायिक वाहनों, कारों तथा उपयोगी वाहनों के उत्पादन और बिक्री की विकास-दर मे तेजी

देखी गइ वहा दोपहिया तथा तिपहिया वाहनो ने इन मोरचो पर ९ विकास दर दर्ज की। उधर निर्यात के क्षेत्र मे कारो तथा उपयोगी वाहनों ने नकारात्मक विकास-दर का प्रदर्शन किया।

खाद्य प्रसंस्करण

देश में खाद्य प्रसंस्करण उद्योग एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें विकास की पर्याप्त सभावनाएँ है। मजबूत तथा प्रभावी खाद्य-प्रसंस्करण उद्योग कृषि के विविधीकरण आर व्यावसायीकरण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के साथ-साथ कृषि उत्पाद के मूल्यवर्धन मे हाथ बँटाने, रोजगार जुटाने, किसानो के लिए आय बढाने और कृषि-खाद्य पदार्थो के लिए अतिरिक्त निर्यात जुटाने मे प्रभावी हो सकता है। प्रमुख खाद्य प्रसस्करण इकाइयाँ है—

क. अन्न प्रसंस्करण,

ख उपभोक्ता खाद्य उद्योग (बेकरी उत्पाद, कोको उत्पाद, सॉफ्ट ड्रिंक, ब्रांडेड जूस तथा बीयर और अल्कोहल आधारित पेय),

ग फल और सब्जी प्रसंस्करण,

घ. दूध तथा दुग्ध उत्पादन,

ङ मांस और पोल्ट्री प्रसस्करण,

च. मत्स्य प्रसंस्करण।

औद्योगिक तथा आर्थिक नीतियो के उदारीकरण ने खाद्य प्रसंस्करण उद्योग के विकास में काफी मदद की, जिसके परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में निवेश बढ़ा। अगस्त 1991 से दिसबर 1998 तक कुल 53,490 करोड रुपए मूल्य 4,676 औद्योगिक उद्यमी ज्ञापन (आई.ई.एम.) प्राप्त किए गए।

उपभोक्ता खाद्य उद्योग में बेकरी उद्योग का आकार सबसे बड़ा है। बेकरी उत्पादों का वार्षिक उत्पादन अनुमानतः 30 लाख टन अतिरिक्त होता है। कोको उत्पादों, जैसे—चॉकलेट, कोको मक्खन, माल्टयुक्त दूध आदि का उत्पादन लगभग 34 हजार टन है जबकि सॉफ्ट ड्रिंक का उत्पादन सन् 1997-98 में 4,920 लाख बोतलों से बढ़कर सन् 1998-99 में 5,670 लाख बोतलो तक पहुँच गया। फलो एव सब्जियो से जुड़े प्रसंस्करण उद्योगों की संस्थापन-क्षमता सन् 1997 में 20 4 लाख टन से बढकर सन् 1998 में 20 8 लाख टन हो गई। प्रसंस्करित फलों एवं सब्जियों का उत्पादन सन् 1997 में 9.1 लाख टन के मुकाबले सन् 1998 मे 9 4 लाख टन हो गया, दुग्ध उत्पादो (आइसक्रीम, मक्खन और घी के अलावा) का कुल उत्पादन सन् 1997 में 284.8 हजार मीट्रिक टन से बढ़कर सन् 1998 में लगभग

301 हजार मीट्रिक टन रहा। उधर प्रसंस्करित मछलियों का उत्पादन 1996-97 मे 54 3 लाख टन के मुकाबले बढकर 1997-98 मे 53 8 टन रहा। प्रसंस्करित खाद्य पदार्थों के निर्यात के क्षेत्र मे भी प्रदर्शन शानदार रहा। मत्स्य उत्पादों समेत प्रसंस्करित खाद्य पदार्थों का कुल निर्यात सन् 1996-97 मे 10,407 करोड रुपए के मुकाबले सन् 1997-98 में बढकर 11,014 करोड रुपए का हो गया।

अन्य महत्त्वपूर्ण उद्योग

कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योगों का प्रदर्शन सन् 1998-99 के दौरान काफी फीका रहा। रबर उद्योग ने 1 5 प्रतिशत की धीमी रफ्तार दर्ज कराई। प्राकृतिक रबर उद्योग की विकास-दर में कमी आई और यह महज 3 6 प्रतिशत रही, जबकि सिंथेटिक तथा रिक्लेम्ड रबर उद्योगो ने भी धीमी विकास-दर क्रमश 5 6 तथा 8 6 प्रतिशत दर्ज कराई। अन्य उद्योगों मे टायर, जूट तथा लौह अयस्क से जुड़े उद्योगो ने नकारात्मक विकास-दर दिखाई। ऑटोमोबाइल टायर उद्योग को 33 प्रतिशत मे अधिक का झटका झेलना पड़ा। इसी प्रकार पटसन (जूट) उद्योग का प्रदर्शन भी कुछ खास अच्छा नही रहा। इस क्षेत्र ने 4 9 प्रतिशत की दर से नकारात्मक विकास दरशाया। लौह अयस्क उद्योग में भी मंदी छाई रही। इसने 6 6 प्रतिशत का नकारात्मक विकास किया (परिशिष्ट तालिका-5)।

अनुसंधान तथा विकास

उदार औद्योगिक माहौल में औद्योगिक गतिशीलता बनाए रखने के लिए नई प्रौद्योगिकी के विकास, डिजाइन और उत्पादों मे सुधार के उद्देश्य से पर्याप्त प्रयासों की आवश्यकता होती है। उद्योग जगत् में अनुसंधान और विकास के लिए विस्तृत आधार जुटाने-हेतु कारगर कोशिशें की जानी चाहिए। 31 मार्च, 1998 तक वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी विभाग द्वारा मान्यताप्राप्त कुल 1,261 अनुसंधान तथा विकास इकाइयाँ मुख्य रूप से रसायन और संबंधित उद्योगों में कार्यरत थीं। इन इकाइयो पर मौजूदा अनुमानित व्यय लगभग 1,800 करोड रुपए का है। सार्वजनिक और संयुक्त क्षेत्रों की हिस्सेदारी 35 प्रतिशत तथा निजी क्षेत्र की 65 प्रतिशत है। अनुसंधान एव विकास में सक्रिय 256 इकाइयों में से प्रत्येक इन गतिविधियों पर 1 करोड रुपए से अधिक व्यय कर रही है, जबकि 350 इकाइयाँ ऐसी हैं, जो प्रत्येक वर्ष 25 लाख से 1 करोड़ रुपए तक खर्च करती हैं। शेष इकाइयाँ हर साल 25 लाख रुपए से कम की राशि अनुसधान तथा विकास-कार्यों पर व्यय करती हैं। अधिकाश अनुसंधान

विकास इकाइयाँ बड़े शहरों के आस-पास स्थित हैं। उदारीकरण का लाभ उठाने के लिए कॉरपोरेट जगत् को अपनी अनुसंधान एवं विकास गतिविधियों को व्यापक आधार देने की दिशा मे और अधिक जागरूक होने की आवश्यकता है।

लघु उद्योग क्षेत्र

लघु क्षेत्र की इकाइयो ने सन् 1998-99 के दौरान 3 6 प्रतिशत की सामान्य विकास-दर दर्ज कराई, जबकि पिछले वर्ष यह दर 5 5 प्रतिशत रही थी। सन् 1998-99 में इस क्षेत्र के उत्पादन की विकास-दर 15 7 प्रतिशत (मौजूदा कीमतों की दृष्टि से) रही, जबकि पिछले वर्ष यह आँकडा 12 7 प्रतिशत रहा था। इस क्षेत्र ने निर्यात मे सन् 1998-99 के दौरान 11.3 प्रतिशत की विकास-दर दर्ज कराई, जो पिछले वर्ष की 13 2 प्रतिशत की दर से कम रही। सन् 1998-99 में लघु उद्योग क्षेत्र ने अनुमानत· 172 लाख लोगों के लिए रोजगार मुहैया कराया, जबकि सन् 1997-98 मे इस क्षेत्र ने 167 लाख लोगों को रोजगार दिलाया था। (परिशिष्ट तालिका-6)।

औद्योगिक रुग्णता

भारत सरकार और भारतीय रिजर्व बैंक भारतीय उद्योगों में रुग्णता के मामलो मे कमी लाने के लिए निरंतर प्रयासरत हैं। तिवारी समिति की सिफारिशे (1981) के बाद रुग्ण औद्योगिक कंपनियाँ (विशेष प्रावधान) अधिनियम, 1985 (एस.आई.सी.ए) पारित किया गया तथा औद्योगिक एवं वित्तीय पुनर्गठन बोर्ड (बी.आई एफ.आर.) का गठन सन् 1987 में किया गया, जो रुग्ण इकाइयों को बचाने संबंधी उपायों पर विचार करने तथा सलाह-मशवरा देने का काम करता है। औद्योगिक पुनर्वास के सभी पहलुओं के बारे में भारतीय रिजर्व बैंक ने विस्तृत दिशा-निर्देश जारी किए हैं। बैंको तथा वित्तीय सस्थानो को भारतीय रिजर्व बैंक के दायरे से बाहर जाकर भी आवश्यकतानुसार राहत/रिआयत उपलब्ध कराने की शक्तियाँ/विवेकाधिकार प्रदान किया गया है।

सूचीबद्ध व्यावसायिक बैंकों से ऋण प्राप्त करनेवाला लघु तथा गैर-लघु क्षेत्र की रुग्ण इकाइयों की संख्या जहाँ मार्च 1997 के अत में 2,37,400 थी, वहीं मार्च 1998 के अत में इस संख्या मे 13,388 (5 6 प्रतिशत) की कमी आई। यह घटकर 2,24,011 रह गई। अलबत्ता, मार्च 1997 के अत में बैंकों की बकाया राशि 13 787 करोड रुपए से बढ़कर 15,682 करोड रुपए हो गई।

गैर-लघु क्षेत्र की रुग्ण/कमजोर इकाइयाँ

सूचीबद्ध व्यावसायिक बैंकों से ऋण प्राप्त करनेवाली गैर-लघु क्षेत्र की रुग्ण/कमजोर इकाइयों की संख्या मार्च 1997 के अंत में 2,368 से मामूली रूप से बढ़कर मार्च 1998 के अंत तक 2,476 तक जा पहुँची। इन इकाइयों पर बैंकों की बकाया राशि भी मार्च 1997 के अंत में 10,177.81 करोड़ रुपए से बढ़कर मार्च 1998 के अंत तक 11,825 25 करोड़ रुपए हो गई (परिशिष्ट तालिका-8)।

क्षेत्रो के लिहाज से पश्चिमी क्षेत्र मे सबसे अधिक गैर-लघु क्षेत्र की रुग्ण इकाइयाँ (767) हैं, जो इस श्रेणी की कुल रुग्ण इकाइयों का 31 प्रतिशत है। महाराष्ट्र में सबसे अधिक गैर-लघु क्षेत्र की रुग्ण इकाइयाँ हैं, जबकि उसके बाद आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, गुजरात, उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु का स्थान है। बैंकों की बकाया राशि सबसे अधिक टेक्सटाइल उद्योग (1,793 करोड़ रुपए या कुल बकाया का 15.2 प्रतिशत) और उसके बाद इंजीनियरिंग (1,418 करोड़ रुपए या 12 प्रतिशत), रसायन (1,352 करोड रुपए या 11 4 करोड़ रुपए), इलेक्ट्रिकल (1,119 करोड़ रुपए या 9.5 प्रतिशत) तथा लौह एवं स्टील उद्योग (1,110 करोड रुपए या 9.5 प्रतिशत) पर है (परिशिष्ट तालिका-8)।

लघु क्षेत्र की रुग्ण इकाइयाँ

सूचीबद्ध व्यावसायिक बैंकों से ऋण लेनेवाली लघु क्षेत्र की इकाइयो की संख्या मार्च 1997 के अंत में 2,35,032 से घटकर सन् 1998 के अत तक 2,21,536 हो गई। अलबत्ता, इन इकाइयो पर बैंकों की बकाया राशि मार्च 1997 के अंत में 3,609 करोड़ रुपए से बढकर सन् 1998 के अत तक 3,857 करोड रुपए हो गई।

लघु क्षेत्र की सर्वाधिक रुग्ण इकाइयाँ पूर्वी क्षेत्र में (44.7 प्रतिशत) और उसके बाद उत्तरी क्षेत्र (21 2 प्रतिशत), दक्षिणी क्षेत्र (17 6 प्रतिशत) तथा पश्चिमी क्षेत्र (16.4 प्रतिशत) में हैं। अलबत्ता, बैंकों की राशि सबसे अधिक पश्चिमी क्षेत्र (31 3 प्रतिशत) और उसके बाद दक्षिणी क्षेत्र (27.8 प्रतिशत), उत्तरी क्षेत्र (23 6 प्रतिशत) तथा पूर्वी क्षेत्र (17 4 प्रतिशत) पर बकाया है (परिशिष्ट तालिका-7)।

केंद्रीय क्षेत्र में परियोजनाओं का प्रदर्शन

योजना तथा कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय द्वारा प्रकाशित सितंबर 1999 के लिए केंद्रीय क्षेत्र की परियोजनाओ[1] की फ्लैश रिपोर्ट के आधार पर सितंबर 1999

1 केंद्रीय क्षेत्र के 100 करोड़ रुपए या अधिक की परियोजनाओ से संबद्ध।

के अंत तक 11 परियोजनाएँ अनुमानित समय से आगे चल रही थीं, जबकि पिछले वर्ष की इसी अवधि में यह संख्या 8 थी। सितंबर 1999 तक 33 परियोजनाएँ निर्धारित समय के अनुसार कार्यरत थी, जबकि सितंबर 1998 के अंत में ऐसी 42 परियोजनाएँ थीं (परिशिष्ट तालिका–9)।

सितंबर 1999 के अंत तक 201 परियोजनाओं में से 103 परियोजनाएँ समय से पीछे थी। रेलवे में सबसे अधिक (21) परियोजनाएँ पिछडी और उसके बाद पेट्रोलियम (19), विद्युत् (16), भूतल परिवहन (16) और कोयला (15) क्षेत्र का स्थान रहा। कुल 54 परियोजनाओं के पूरा होने की अनुमानित तारीख तय नहीं है, उनमें सर्वाधिक रेलवे (52) में हैं (परिशिष्ट तालिका–9)।

समय से पिछड़ी परियोजनाओं के वर्षवार विश्लेषण से पता चलता है कि सितबर 1999 के अंत तक 103 परियोजनाओ मे से—(क) 42 में 2–5 वर्षो की देरी हुई; (ख) 28 परियोजनाओं में 1 वर्ष की देरी हुई, (ग) 17 परियोजनाओ में 5-10 वर्षो की तथा (घ) 16 मे 1–2 वर्ष की देरी हुई।

देरी का कारण

परियोजनाओं में देरी[1] के कारणों की समीक्षा से स्पष्ट है कि सर्वाधिक (20) परियोजनाएँ निर्माण–कार्यो में समस्याओ की वजह से पिछड़ीं। 16 परियोजनाओ मे देरी भूमि संबधी समस्याओ के कारण हुई, जबकि धनराशि और ठेका देने सबंधी परेशानियों के चलते कुल मिलाकर 13 परियोजनाएँ निर्धारित समय–सीमा से पिछड़ गई।

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों (पी.एस.ई.) का प्रदर्शन

सरकार द्वारा सुधार उपाय लागू करने के बाद सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो के प्रदर्शन–संकेतकों में सकारात्मक सुधार देखा गया है। इन उपक्रमों का शुद्ध लाभ सन् 1996–97 में 9,992 करोड़ रुपए (238 पी एस ई का) से बढ़कर सन् 1997–98 मे 13,725 करोड रुपए (236 पी.एस.ई.) हो गया। नतीजतन पूँजीगत लाभ भी 15 1 प्रतिशत से बढकर सन् 1997–98 मे 16.2 प्रतिशत तक बढ गया। लाभ कमानेवाले सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की संख्या सन् 1996–97 मे 130 से बढ़कर सन् 1997–98 में 134 हो गई, जबकि घाटा दिखानेवाले उपक्रमों की संख्या सन् 1996–97 मे 104 से घटकर सन् 1997–98 में 100 हो गई। सन्

---

1 परियोजनाओ मे देरी कई कारणो से होती है।

1997-98 के दौरान पी एस.ई के मूल्यवर्धन में पिछले वर्ष की तुलना में 27 3 प्रतिशत की जबर्दस्त तेजी देखी गई (परिशिष्ट तालिका-10)।

रोजगार

अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्र (अर्थात् 10 या अधिक कर्मियों को रोजगार मुहैया करानेवाले गैर-कृषिगत उपक्रम) में मार्च 1998 के अंत में पिछले वर्ष की इसी अवधि की तुलना में 0 5 प्रतिशत की मामूली बढ़त दर्ज की गई। पिछले वर्ष के मुकाबले मार्च 1999 के अत तक कर्मचारियो की सख्या मे भी 1.3 लाख की बढोतरी हुई। सार्वजनिक क्षेत्र में सन् 1997-98 के दौरान रोजगार में मामूली (-0 1 प्रतिशत) गिरावट आई। अलबत्ता, निजी क्षेत्र ने रोजगार मे 1 7 प्रतिशत की दर से वृद्धि दर्ज की (मार्च 1997 के अत में 86.85 लाख लोगो के मुकाबले मार्च 1998 के अत तक यह संख्या 88 35 लाख हो गई), संगठित क्षेत्र में रोजगार प्राप्त महिलाओं की संख्या मार्च 1997 के अंत में 46.37 लाख रही, जो मार्च 1998 के अंत तक 3.8 प्रतिशत बढ़कर 48 15 लाख तक पहुँच गई। उक्त अवधि में संगठित क्षेत्र में कुल रोजगार में महिलाओं की हिस्सेदारी 16.6 प्रतिशत से बढकर 17 प्रतिशत तक जा पहुँची (परिशिष्ट तालिका-11)।

			1999-2000 (अ)	98-99 (अ)	98-99 (अ)		1997-98		1996-97	
			सूचकांक	सूचकांक	सूचकांक	विकास में योगदान (%)*	सूचकांक	विकास में योगदान (%)*	सूचकांक	विकास में योगदान (%)*
1	खनन एवं खुदाई	10.47	115.7	115 2	120.3	−4 2	122.4	8 4	155 6	−3 5
			(0.4)	(−0 4)	(−1.8)		(5.9)		(−1.9)	
2	निर्माण	79.36	150.4	140 8	146.7	88 9	140.6	82.2	131.8	96.7
			(6.8)	(4.1)	(4.4)		(6.7)		(6.7)	
3	विद्युत्	10 17	146.7	136 2	138.4	15 5	130.0	9.6	122 0	7 0
			(7.7)	(7 4)	(6.4)		(6.6)		(4 0)	
	सामान्य सूचकांक	100 00	146 4	137 6	143 1	100 0**	137.6	100 0**	129 1	100.0**
			(6 4)	(4.0)	(4.0)		(6.6)		(5.6)	

अ. अस्थायी।

* एक क्षेत्र विशेष मे सापेक्ष योगदान (उदाहरणस्वरूप 'एस' में) की माप 'एस' के सूचकांक में वृद्धि दरशानेवाले परिवर्तन और कुल सूचकाक के अनुपात के आधार पर की जाती है।

** राउड ऑफ के कारण आँकडो के 100 तक नहीं हो सकने की सभावना है।

नोट कोष्ठक में दिए गए आँकडे पिछले वर्ष की तुलना मे हुए बदलाव को दरशाते हैं।

उद्योग समूह	वजन	सूचकांक (प्रतिशत) अप्रैल-सितं.		विकास-दर (प्रतिशत) अप्रैल-सितं.		सापेक्ष योगदान अप्रैल-सितं.		सूचकांक (प्रतिशत) अप्रैल-मार्च		[illegible] अप्रैल-मार्च		अप्रैल-मार्च	
		1999-2000 (अ)	1998-99 (अ)	1999-2000 (अ)	1998-99 (अ)	1999-2000 (अ)	1998-99 (अ)	1998-99 (अ)	1997-98	1998-99 (अ)	1997-98	1998-99 (अ)	1997 98
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
1 विकास की रफ्तार (1998-99 के दौरान)													
क. धातु उत्पादन तथा हिस्से (मशीनरी एवं उपकरणो को छोड़कर)	2 81	129.3	138 6	-6 7	25.1	-3 4	18 2	141.6	120 2	17 8	8.4	12 3	3 7
ख. कागज और कागज उत्पादन तथा मुद्रण, प्रकाशन एवं संबंधित उद्योग	2 65	187 1	160 3	16 7	14 9	9 2	12 9	169 8	146 4	16 0	6 9	12 7	3 6

तथा कोयला उत्पाद	5 73	139 3	134.6	3 5	10.[illegible]	3 3	17 3	13[illegible]	124 [illegible]	11 [illegible]	[illegible] 2	10 4	[illegible]
ङ चमड़ा एवं													
फर उत्पादन	1 14	133.3	116 4	14 5	4 9	2 5	1 4	119 9	110.8	8 1	2 2	2 1	0 4
च. अन्य निर्माण उद्योग	2.56	112 0	132 8	-15 7	10 6	-6 9	7 6	128 4	120.4	6 6	-2.7	4.2	-1.2
छ खाद्य उत्पाद	9.08	110 3	113.1	-2.5	-3.3	-3 3	-8 3	134.7	133 8	0.7	-0 4	1.7	-0 7
2. रफ्तार में कमी													
(1998-99 के दौरान)													
ज बेवरेज (पेय), तंबाकू													
तथा संबद्ध उत्पाद	2 38	192 6	176 2	9.3	17.2	5 1	14.4	178.5	158 1	12.9	19.4	9.9	8.7
झ. गैर-धातु खनिज उत्पाद	4.40	200 2	161 1	24.3	5 2	22.3	8.1	174.6	161 4	8 2	13.8	11.8	12 4
त. बुनियादी रसायन और													
रासायनिक उत्पाद													
(पेट्रोलियम तथा कोयला													
उत्पादों को छोड़कर)	14.00	162 8	146 9	10.8	7.4	28.9	33.0	149 8	140.5	6.6	14.5	26.5	35.7
थ. ऊन, सिल्क तथा													
रेशायक्त वस्त्र	2 26	192 3	172 6	11 4	4 2	5 8	3 6	176 8	172 0	2 8	18 5	2 2	8 7

द. मशीनरी और उपकरण (परिवहन उपकरणों को छोड़कर)	9 57	167.9	138.6	21.1	−3 2	36.4	−10 3	152 1	149 5	1.8	5 5	5 1	10.6
3. नकारात्मक (1998–99 के दौरान)													
ध. बुनियादी धातु तथा मिश्रित धातु उद्योग	7 45	142.5	139.3	2 3	−0.6	3 1	−1.4	139 9	143 5	−2 5	2 6	−5 5	3 9
प कपडा उत्पादन	2 54	151 7	153.1	−0 9	−2 1	−0 5	−2 0	153 1	158 7	−3 5	8 5	−2 9	4 5
फ. लकड़ी और लकड़ी उत्पाद, फर्नीचर	2 70	106 8	127.2	−16 0	−3 6	−7 2	−3 0	121 0	128 5	−5.8	−2 6	−4 1	−1 3
ब जूट तथा अन्य रेशायुक्त कपड़े (सूती छोड़कर)	0.59	101.3	105.3	−3 8	−5.4	−0 3	−0.8	106 0	114 3	−7.3	16 6	−1 0	1 4
भ. सूती कपड़े	5 52	121 1	115.3	5 0	−10.1	4 2	−16 6	115 9	125 6	−7 7	2 3	−10 9	2.2
निर्माण क्षेत्र	79 36	150 4	140.8	6.8	4.1	100	100*	146 7	140 6	4 4	6.7	100*	100*

(अ) अस्थायी।

		1999-2000 (अ)	1998-99 (अ)	1998-99 (अ)	1997-98	1996-97
1. बुनियादी सामान	35 51	5 1	2 5	1 5	6 5	3 0
		(27.0)	(21.4)	(12 5)	(33.8)	(19 3)
2. पूँजीगत सामान	9.69	9 2	11.1	12 7	5 3	9.3
		(13 5)	(24.3)	(28 4)	(7.3)	(14 5)
3 मध्यवर्ती सामान	26 44	9.1	5 6	5.9	8 1	8.1
		(41.5)	(40 4)	(41 3)	(34 2)	(39.3)
4 उपभोक्ता सामान	28.36	4 0	1.8	2 4	5 7	5.2
जिसमे—		(17 4)	(12.8)	(17.5)	(25 0)	(27 1)
क. उपभोक्ता टिकाऊ वस्तुएँ	5.12	12 8	1.9	4.7	7 8	4.6
		(11 9)	(2 9)	(7 2)	(7 2)	(5.1)
ख उपभोक्ता गैर-टिकाऊ वस्तुएँ	23.24	1 6	1 8	1.8	5.2	5.3
		(5 5)	(10 1)	(10.1)	(18 0)	(21.9)
सामान्य सूचकांक	100 0	6 4	4 0	4.0	6 6	5 6

अ अस्थायी।

उद्योग	वजन	अप्रैल-सितंबर		अप्रैल-मार्च		
		1999-2000 (अ)	1998-99 (अ)	1998-99 (अ)	1997-98	1996-97
विद्युत्	10 17	146.7	136 5	138 8	130 0	121 9
		(7 4)	(7 7)	(6.8)	(6.6)	(3 8)
कोयला	3 22	105 6	106 8	117 8	120 7	116 0
		(-1 1)	(1 3)	(-2.3)	(4 0)	(5 9)
बिक्री योग्य स्टील	5 13	163.9	157.2	162 3	160 6	151 1
		(4.3)	(2.6)	(1.0)	(6.3)	(5.8)
सीमेंट	1 99	169 2	142 3	153 3	145 1	133 0
		(18 8)	(4 2)	(5 7)	(9.1)	(9 6)
पेट्रोलियम कच्चा	4 17	121 4	120 2	121 3	125 3	121 8
		(1 0)	(-4 0)	(-3 2)	(2.9)	(-4 7)
पेट्रोलियम रिफाइनरी उत्पाद	2 00	146 5	123 0	128.4	122 1	117 8
		(19.1)	(1 7)	(5.1)	(3.7)	(7 0)
	26 68	142.7	133 8	138 3	134 6	127 3
रचना सूचकांक के छह सूचना उद्योग		(6 7)	(3 4)	(2 7)	(5 7)	(3 7)

परिशिष्ट तालिका-5
प्रमुख उद्योगों के उत्पाद में विकास

(प्रतिशत)

उद्योग	अप्रैल-मार्च	
	1997-98	1998-99 (अ)
1 कच्चा तेल	2 9	-3 4
2 पेट्रोलियम रिफाइनरी उत्पाद	3 9	5 3
3 रबर उद्योग, जिसमें हैं—	6 6	1.5
क प्राकृतिक	6.4	3.6
ख सिंथेटिक	10 8	-5.6
ग रिक्लेम्ड	4 5	-8 6
4 कोयला	3.9	-1 6
5 सीमेंट	9.1	5.7
6 विद्युत् शक्ति	6 5	6.6
7 पिग आयरन	2.9	-11.8
8 लौह अयस्क	11 0	-6.6
9 ऑटोमोबाइल टायर	0.0	(-) 33.3
10 जूट	19.8	-4 9

(अ) अस्थायी।

स्रोत : 1 पेट्रोलियम तथा प्राकृतिक गैस मंत्रालय, भारत सरकार।
2 रबर बोर्ड, भारत सरकार।
3 कोयला मंत्रालय, भारत सरकार।
4 उद्योग मंत्रालय, भारत सरकार।
5 केंद्रीय विद्युत् प्राधिकरण, विमुक्त बिजली मंत्रालय, भारत सरकार।
6 भारतीय खदान ब्यूरो, भारत सरकार।
7. केंद्रीय सांख्यिकीय संगठन भारत सरकार।
8. जूट उत्पादन विकास परिषद्, कोलकाता।

परिशिष्ट तालिका-6
लघु क्षेत्र का प्रदर्शन

मद	अप्रैल-मार्च		
	1996-97	1997-98	1998-99 (अ
1. इकाइयों की सख्या (लाख)	28 57	30 14	31.21*
	(4 9)	(5 5)	(3.6)
2 उत्पादन (1990-91 के मूल्यों के अनुसार करोड़ रुपए)			
क लक्ष्य	231,020	253,705	278,619
ख उपलब्धि	247,311	268,159	294,734*
	(11 3)	(8.4)	(9 9)
3 उत्पादन (मौजूदा मूल्यों के अनुसार करोड़ रुपए)			
क. लक्ष्य	385,454	440,098	508,906
ख उपलब्धि	412,636	465,171	538,357
	(15 8)	(12 7)	(15 7)
4 रोजगार (लाख व्यक्ति)			
क लक्ष्य	158 91	166.86	175 20
ख उपलब्धि	160 00	167.00	171 58*
	(4 8)	(4.4)	(2 7)
5 निर्यात (मौजूदा मूल्यों के अनुसार करोड़ रुपए)			
क. लक्ष्य	20,207	47,905	57,488
ख. उपलब्धि	39,249	44,437	49,481*
	(7 6)	(13.2)	(11 4)

* अनुमानित।

अ अस्थायी।

नोट · 1 कोष्ठक मे दिए गए आँकडे पिछले वर्ष की तुलना में प्रतिशत में आए बदलाव को दर्शाते हैं।

2 आँकड़े विद्युत्चालित करघो तथा पारंपरिक उद्योगों समेत आधुनिक लघु क्षेत्र के उद्योग से संबधित है।

स्रोत · 1 विकास आयुक्त का कार्यालय, लघु उद्योग क्षेत्र, उद्योग मत्रालय, भारत सरकार।

2 वार्षिक रिपोर्ट, सन् 1998-99, उद्योग मत्रालय।

परिशिष्ट तालिका-7
लघु क्षेत्र की बीमार इकाइयों की स्थिति

(करोड़ रुपए)

राज्य/केंद्रशासित प्रदेश	मार्च 1997 के अंत में		मार्च 1998 के अंत में	
	बीमार इकाइयों की संख्या	बकाया धनराशि	बीमार इकाइयों की सख्या	बकाया धनराशि
1	2	3	4	5
1 पूर्वी क्षेत्र	1,05,109	626 60	1,06,756	648 96
अखिल भारत का % अश	44.72	17 36	44.72	17.36
अंडमान निकोबार द्वीप समूह	13	0 08	45	1 60
अरुणाचल प्रदेश	26	0 12	456	0 94
असम	10,133	54.18	15,774	60 62
बिहार	22,702	120.62	24,935	142 74
मणिपुर	2,707	9 85	1,919	8.79
मेघालय	5,531	8 20	4,076	6 52
मिजोरम	1,199	2 76	615	2 45
नगालैंड	2,738	9.44	1,386	4.98
उड़ीसा	3,408	45 08	1,889	35 63
सिक्किम	30	0 14	33	0 11
त्रिपुरा	3,171	4 46	2,011	6 26
पश्चिम बंगाल	53,451	371.67	53,617	378.32
2 उत्तरी क्षेत्र	49,967	850 37	40,579	954.97
अखिल भारत का % अंश	21.26	23 56	21 26	23.56
चंडीगढ़	170	14.41	163	16.69
दिल्ली	3,943	264.81	3,580	298 59
हरियाणा	2,574	63.95	2,149	92.41
हिमाचल प्रदेश	2,206	17 68	735	22.15
जम्मू एव कश्मीर	761	8 10	1,627	25 15
पंजाब	2,466	84.44	2,376	91 70
राजस्थान	14,561	97.51	15,655	108.62
उत्तर प्रदेश	23,286	299 39	14,294	299.66

1	2	3	4	5
3 पश्चिमी क्षेत्र	38,549	1,128.94	33,758	1,137.57
अखिल भारत का % अंश	16.40	31.28	16.40	31.28
दादरा नागर हवेली	1	0.90	2	1.16
दमन-दीव	4	1.41	5	3.83
गोवा	604	13.86	670	16.15
गुजरात	6,510	196.80	6,808	224.63
मध्य प्रदेश	12,070	151.44	8,248	141.86
महाराष्ट्र	19,360	764.53	17,925	749.94
4 दक्षिणी क्षेत्र	41,407	1,003.39	40,443	1,135.14
अखिल भारत का % अंश	17.62	27.80	17.62	27.80
आंध्र प्रदेश	15,460	214.39	12,074	218.77
कर्नाटक	6,937	203.26	6,680	223.19
केरल	8,908	168.28	8,969	190.12
लक्षद्वीप	0	0.00	0	0.00
पांडिचेरी	293	18.64	431	26.13
तमिलनाडु	9,809	398.82	12,289	456.93
सपूर्ण भारत (1+2+3+4)	2,35,032	3,609.20	2,21,536	3,856.64

* लघु क्षेत्र की औद्योगिक इकाई को बीमार उस स्थिति में समझा जाएगा, जबकि (क) उसके द्वारा लिया गया कोई भी ऋण संदिग्ध अग्रिम बन जाए, अर्थात् उसके ऋण से संबंधित मूल या ब्याज राशि ढाई वर्षों से अधिक समय तक बकाया रहे, (ख) जिसके किसी भी लेखा वर्ष में कुल घाटे के कारण पिछले 4 वर्षों के दौरान उसकी शुद्ध कीमत का 50 प्रतिशत हिस्सा नष्ट हो जाए।

स्रोत औद्योगिक निर्यात तथा ऋण विभाग, भारतीय रिज़र्व बैंक।

परिशिष्ट तालिका-8
बीमार गैर-लघु/कमजोर इकाइयों की स्थिति

(करोड़ रुपए)

राज्य/केंद्रशासित प्रदेश	मार्च 1997 के अंत में		मार्च 1998 के अंत मे	
	बीमार गेर-लघु/कमजोर इकाइयो की सख्या	बकाया धनराशि	बीमार गैर-लघु/कमजोर इकाइयो की संख्या	बकाया धनराशि
1	2	3	4	5
1 पूर्वी क्षेत्र	423	1,754 49	419	1,879.58
अखिल भारत का % अंश	17 86	17 24	16 92	15.89
अडमान निकोबार द्वीप समूह	0	0.00	0	0.00
अरुणाचल प्रदेश	2	2 47	2	2.47
असम	41	167.40	44	157.97
बिहार	64	190 81	63	358.24
मणिपुर	1	2 45	2	2.42
मेघालय	1	0 89	2	1.39
मिजोरम	0	0 00	0	0.00
नगालैंड	2	3.43	2	4.48
उड़ीसा	62	284 41	57	210.64
सिक्किम	1	6.35	1	6.35
त्रिपुरा	6	9 95	6	9.41
पश्चिम बंगाल	243	1,086.33	240	1,126.21
2 उत्तरी क्षेत्र	511	2,036 96	526	2,472
अखिल भारत का % अंश	21 58	20 01	21.24	20.91
चंडीगढ	10	22 73	3	7 54
दिल्ली	35	172 35	34	233.51
हरियाणा	78	328.28	86	394 87
हिमाचल प्रदेश	31	37 47	32	54 30
जम्मू कश्मीर	9	17 95	7	8 91
पंजाब	62	200 84	69	203 01
राजस्थान	84	276 26	87	371.33

	2	3	4	5
उत्तर प्रदेश	202	981.08	208	1,198.97
3. पश्चिमी क्षेत्र	742	2,912	767	3,563
अखिल भारत का % अंश	31.33	28.61	30.98	30.13
दादरा नागर हवेली	4	6.43	8	18.47
दमन-दीव	3	9.37	5	27.77
गोवा	12	31.79	13	51.66
गुजरात	213	664.61	215	891.34
मध्य प्रदेश	111	364.75	116	491.68
महाराष्ट्र	399	1,834.77	410	2,092.11
4 दक्षिणी क्षेत्र	692	3,474.44	764	3910
अखिल भारत का % अंश	29.22	34.14	30.86	33.07
आंध्र प्रदेश	264	1,186.71	295	1,264.15
कर्नाटक	159	1,024.48	171	1,031.85
केरल	81	492.81	85	495.73
लक्षद्वीप	0	0.00	0	0.00
पांडिचेरी	13	44.05	15	34.04
तमिलनाडु	175	726.39	198	114.43
संपूर्ण भारत (1+2+3+4)	2,368	10,177.81	2,476	11,825.25

* (क) बीमार औद्योगिक इकाई का अर्थ है ऐसी औद्योगिक कंपनी (जो कम से कम 5 वर्ष से पंजीकृत हो) जिसे किसी भी वित्त वर्ष के अंत में अपनी संपूर्ण पूँजी के बराबर या उससे अधिक राशि का नुकसान हुआ हो।

(ख) गैर-लघु क्षेत्र की औद्योगिक वह इकाई 'कमजोर' इकाई है जिसके किसी भी लेखा वर्ष में कुल घाटे के कारण पिछले चार लेखा वर्षों के दौरान उसकी सर्वाधिक शुद्ध कीमत का 50 प्रतिशत हिस्सा नष्ट हो जाए। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कमजोर इकाइयों के अन्तर्गत इन्हें नहीं शामिल किया जाएगा, जो बीमार औद्योगिक कंपनियाँ (विशेष प्रावधान) अधिनियम, 1985 के दायरे में आती हैं, साथ ही अन्य श्रेणियाँ, जैसे—भागीदारी फर्म, स्वामित्व फर्म आदि। किसी 'कमजोर' औद्योगिक कंपनी को उस स्थिति में 'बीमार' कंपनी समझा जाएगा जब इसे एस.आई.सी.ए., 1985 (फरवरी 1994 तक संशोधित) के अनुच्छेद 23 एफ(1) के अंतर्गत बी.आई.एफ.आर. में शामिल किया जाएगा।

स्रोत : औद्योगिक निर्यात तथा ऋण विभाग, भारतीय रिजर्व बैंक।

परिशिष्ट तालिका-9
केंद्रीय क्षेत्र की परियोजनाओं की स्थिति
(सितंबर 1999 के अंत में)

(परियोजनाओं की संख्या)

क्षेत्र	समय से आगे	समय से	देरी	शुरू होने की तारीख के बगैर	कुल	देरी (कुल के प्रतिशत में)
1 आणविक ऊर्जा	–	0	4	–	4	100 0
2 नागरिक उड्डयन	–	–	3	–	3	100 0
3 कोयला	–	5	15	–	20	75 0
4 वित्त	–	–	1	–	1	100 0
5 उर्वरक	–	3	–	1	4	0 0
6 खान	1	1	1	–	3	33 3
7 स्टील	–	–	4	–	4	100 0
8 पेट्रोकेमिकल्स	–	–	1	–	1	100 0
9 पेट्रोलियम	4	4	19	–	27	70 4
10 विद्युत	5	7	16	1	29	55 2
11 रेलवे	1	7	21	52	81	25 9
12. भूतल परिवहन	–	5	16	–	21	76 2
13 दूरसंचार	–	–	2	–	2	100 0
14 अन्य	–	1	–	–	1	0 0
कुल	11	33	103	54	201	51 2

नोट 1 केंद्रीय क्षेत्र की परियोजनाओं से सम्बद्ध, 100 करोड़ रुपए और अधिक मूल्य की।

2 प्रारंभ होने की अनुमानित तिथि के आधार पर देरी की गणना की गई है।

स्रोत योजना तथा कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय, भारत सरकार।

परिशिष्ट तालिका-10
केंद्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम प्रदर्शन

(राशि करोड़ रुपए में)

मद	1993-94	94-95	95-96	96-97	97-98
कार्यरत उद्यमों की संख्या	241	241	239	248	236
पूँजी	1,59,836	1,61,311	1,73 765	2,01 496	2,23,047
मूल्यवर्धित	41,486	47,986	57,859	57,116	726,91
सकल मुनाफा	18,556	22,516	27,587	30,609	36 093
शुद्ध मुनाफा	4,545	7,217	9,574	9,992	13,725
मुनाफा कमानेवाले सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमो की सख्या	121	130	132	130	134
घाटा दिखानेवाले सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमो की सख्या	116	109	102	104	100
न मुनाफा, न घाटा दिखानेवाले सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की सख्या	3	2	5	2	2
पूँजी % के अनुसार सकल	17.33	20.61	23 11	22 23	23.59
पूँजी % के अनुसार सकल मुनाफा	11.61	13 96	15 88	15 19	16 18

स्रोत : सार्वजनिक उद्यमों का सर्वेक्षण 1997-98, (वॉल्यूम 1), भारत सरकार।

परिशिष्ट तालिका-11
संगठित क्षेत्र में रोजगार

(लाख मे

र	सार्वजनिक क्षेत्र							
केंद्रीय सरकार	प्रादेशिक सरकार	अर्द्ध सरकारी	स्थानीय निकाय	कुल (2 से 5)	निजी क्षेत्र	कुल (6+7)	कुल मे से रोजगार प्राप्त महिलाएं	रोजगार प्राप्त
2	3	4	5	6	7	8	9	10
95	73 55	65 20	21 97	194 66	80 58	275.25	43 04	15
0 1)	(+0.2)	(+0 1)	(−0.3)	(+0 1)	(+1 6)	(+0 5)	(+3 6)	
66	74.14	64 58	21 92	194.29	85.12	279 41	44.26	15
0 9)	(+0 8)	(−1.0)	(−0.2)	(−0 2)	(+5 6)	(+1 5)	(+2 8)	
95	74 85	65.35	22.44	195.59	86.85	282.45	46.37	16
2 1)	(+1 0)	(+1.2)	(+2 4)	(+0 7)	(+2 0)	(+1 1)	(+4 8)	
-	-	-	-	195.40	88 35	283.75	48.15	17
				(−0 1)	(+1 7)	(+0.5)	(+3 8)	

दए गए आँकड़े पिछले वर्ष की तुलना मे प्रतिशत में बदलाव को दरशाते हैं।

, भारत सरकार।

नब्बे के दशक में बाह्य आर्थिक चुनौतियों का प्रबंधन : भविष्य के लिए सबक

—शंकर आचार्य

भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए नब्बे का दशक बाह्य चुनौतियों के लिए बहुत असाधारण साबित हुआ। मैं यहाँ छह विशेष चुनौतियों का उल्लेख विस्तार से करना चाहता हूँ, जिनका सामना भारतीय अर्थव्यवस्था ने किया। इन चुनौतियों में सन् 1991 का भुगतान-संतुलन का संकट, सन् 1993 और 1994 में विदेशी पूँजी का जबरदस्त प्रवाह, व्यापारिक उदारीकरण, बाहरी कर्जों का प्रबंधन, पूर्वी एशियाई संकट फैलने का खतरा, विनिमय-दर प्रबंधन से जुड़े मुद्दे और विकल्प शामिल हैं। इनमें से हर विषय पर अलग से विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता है। मैं इनमें से हर विषय पर चुनिंदा ढंग से संक्षेप में विचार करना चाहता हूँ।

1991 का भुगतान-संतुलन का संकट

इस दशक की शुरुआत भयावह ढंग से हुई। भुगतान-संतुलन का भीषण संकट पूरी विकरालता के साथ सामने आया। सन् 1991 की गर्मियों में विदेशी मुद्रा भंडार में सिर्फ एक अरब डॉलर रह गए, जो सिर्फ दो सप्ताह के आयात के लिए ही पर्याप्त थे। निर्यात में भी गिरावट आने लगी। वाणिज्यिक ऋण बाजार में पहुँच पर रोक लग गई। औद्योगिक विकास-दर 1.3 प्रतिशत के नकारात्मक आँकड़े पर आ गई। मुद्रास्फीति का ग्राफ अगस्त 1991 में 16 प्रतिशत की उड़ान भरने लगा। कुल मिलाकर आर्थिक विकास-दर में भी 1 प्रतिशत की गिरावट आ गई।

इस संकट के उत्तरदायी कई कारण थे। अस्सी के दशक के उत्तरार्ध में राजकोषीय घाटा बेहद बढ़ गया। उद्योग और व्यापार पर जरूरत से ज्यादा नियंत्रण था। विदेश व्यापार नीतियों में निर्यात को हतोत्साह किया जा रहा था और उच्च

का आयात बढ रहा था बडे व्यापार घाटे से उबरने के लिए बाहर से ऋण ी प्रवृत्ति बढ गई थी। विदेशी निवेश के बारे मे दृष्टिकोण नकारात्मक था र्थव्यवस्था की सेहत नाजुक थी। इन संवेदनशील परिस्थितियों में खाडी युद्ध सके कारण तेल आयात बिल बढ़ने से अर्थव्यवस्था के बाह्य क्षेत्र में जोरदार पैदा हो गया।

जून 1991 के चुनाव के बाद केंद्र में बनी सरकार ने तुरत स्थिति की रता को भॉपते हुए स्थिरीकरण के लिए मजबूत उपाय किए और राजकोषीय उद्योग नीति, विदेश व्यापार और विनिमय-दर व्यवस्था, विदेशी निवेश-कर-प्रणाली, वित्तीय क्षेत्र, पूँजी बाजारों, कृषि मूल्य-निर्धारण, वितरण नीति ार्वजनिक क्षेत्र में व्यापक सुधार के उपाय शुरू किए गए। बाह्य क्षेत्र में सुधार उपाय किए गए, उनकी झलक मैं यहॉ देना चाहता हूँ—

1 विनिमय-दर व्यवस्था को 2 साल के भीतर बदलते हुए बास्केट व्यवस्था को परिवर्तित कर विनिमय-दरो का निर्धारण बाजार से होने लगा। सक्रमण अवधि में दोहरी दरें जरूर प्रभावी रहीं।

2 पूँजीगत सामान कच्चे माल और कुछ अन्य मामलो में आयात लाइसेंसिग की व्यवस्था लगभग समाप्त कर दी गई। अधिकतर उपभोक्ता वस्तुओ पर परिमाण संबंधी पाबदियॉ कायम रहीं।

3 बेहद ऊँची कस्टम शुल्क व्यवस्था को घटाने के लिए कार्यक्रम शुरू किया गया और संरक्षणात्मक शुल्क दरों को मार्च 1993 तक घटाकर 85 प्रतिशत पर ले आया गया।

4 अनेक उद्योगों में 51 प्रतिशत तक सीधे विदेशी निवेश की स्वत: मंजूरी की व्यवस्था कर दी गई।

5 विदेशी निवेश संवर्द्धन बोर्ड की स्थापना की गई, ताकि अन्य क्षेत्रों और 51 प्रतिशत से अधिक निवेश के लिए मंजूरी की प्रक्रिया तेज की जा सके।

6 विदेशी मुद्रा-विनिमय नियमन कानून को संशोधित किया गया, ताकि फर्मों और विदेशी-इक्विटी के लिए भारतीय व्यवसाय में प्रवेश के लिए उदार माहौल बनाया जा सके।

7 भारतीय शेयरों के लिए द्वितीयक बाजार में हिस्सेदारी बढ़ाने हेतु नई नीति लागू की गई। पोर्टफोलियो विदेशी निवेश को बढ़ावा दिया गया।

तालिका-1, तालिका-2 और रेखाचित्र-1 से स्पष्ट है कि इन सुधारो के

तुरत कितने फायदे हुए इनसे सन 1992 93 म कुल मिलाकर आर्थिक विकास दर 5 3 प्रतिशत तक पहुँच गई और इसके बाद विकास-दर तेज हो गई। औद्योगिक क्षेत्र में तेजी आने में कुछ समय लगा, लेकिन सन् 1994-95 मे इस क्षेत्र की विकास-दर 9 3 प्रतिशत तक जा पहुँची। डॉलर के हिसाब से निर्यात वृद्धि दर सन् 1993-94 में बढ़कर 20 प्रतिशत हो गई। चालू खाता घाटा तेजी से गिरा और यह सन् 1990-91 मे 9 7 अरब से गिरकर सकल घरेलू उत्पाद के 1 से 1 5 प्रतिशत तक सीमित रह गया। आयात वृद्धि-दर भी सुधर गई। विदेशी निवेश में भी तेजी से वृद्धि हुई। यह सन् 1993-94 मे 4 अरब डॉलर तक पहुँच गया। विदेशी मुद्रा भंडार में भी जबरदस्त वृद्धि हुई।

दिलचस्प बात यह है कि भारतीय अर्थव्यवस्था अपने संकट से दूसरे विकासशील देशो के मुकाबले तेजी से उबरी। तालिका-3 से स्पष्ट है कि सुधार शुरू होने के पहले 3 वर्ष में औसत आर्थिक विकास-दर 6 4 प्रतिशत थी जबकि उस समय तीस विकासशील देशों मे औसत विकास-दर 2 2 प्रतिशत ही थी।

जबरदस्त पूँजी-आवक का प्रबंधन

बाह्य क्षेत्र में आमूल-चूल बदलाव आर्थिक सुधारो की सफलता का सृष्टि था, लेकिन इससे जबरदस्त पूँजी-आवक के प्रबंधन की एकदम नई समस्या सामने आई। हमारे लिए यह पूरी तरह से अबूझ चुनौती थी। इसका समाधान करने के लिए किताबी अवधारणाओं का व्यवहार से सम्मिलन करना था। यह प्रणय था, जो स्वर्ग मे नही, बल्कि यथार्थ के धरातल पर होना था। इस स्थिति में जो प्रमुख मुद्दे उभरे उनसे निपटने के लिए अपनाई गई नीतियों से जो परिणाम सामने आए, उसकी एक झलक मैं देना चाहता हूँ।

सितंबर 1993 से अक्तूबर 1994 के बीच विदेशी मुद्रा भंडार में 12 अरब 20 करोड़ डॉलर का इजाफा हुआ, यानी हर महीने करीब 1 अरब डॉलर विदेशी मुद्रा आई। दूसरी दृष्टि से देखें तो इन 13 महीने में भंडार सकल घरेलू उत्पाद के 4 प्रतिशत के बराबर हो गया (विवरण तालिका-2 में)।

विदेशी मुद्रा के प्रवाह से जो प्रमुख मुद्दे उभरे, वे इस प्रकार हैं—

1 इस प्रवाह के समय न्यूनतम विनिमय-दर को बढ़ने दिया जाए या यह धन विदेशी मुद्रा भंडार में जमा किया जाए।
2. पूँजी-प्रवाह की समस्या को अवसरों में कैसे तब्दील किया जाए, ताकि बाह्य व्यापार और अदायगी का उदारीकरण हो।

इन मुद्दों पर फैसला लेते समय पूजी प्रवाह की भविष्य की तसवीर की अनदेखी की गई और खासतौर से इस बात पर ध्यान नही दिया गया कि यह प्रवाह स्थायी है या अस्थायी है।

विनिमय-दर के मामले में अतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की सलाह के विपरीत हमने भंडार बढने दिया और न्यूनतम डॉलर-रुपया बराबरी को चढ़ने नहीं दिया। इस फैसले से कई कारण जुड़े थे।

सितंबर 1993 मे हमारा विदेशी मुद्रा भंडार 7 6 अरब डॉलर था, जो तीन महीने के आयात के लिए पर्याप्त था। इसे नाकामी समझा गया। फिर सन् 1991 के आघात की काली यादें भी धुँधली नहीं पड़ी थी। इसलिए विदेशी मुद्रा भंडार को आरामदायक स्थिति मे लाने का इरादा बनाया गया। दूसरे, उस समय हम निर्यात में उफान के शुरुआती दौर में थे। न्यूनतम विनिमय दर में तेज वृद्धि से हम उस उफान को नहीं रोकना चाहते थे। पूँजी-प्रवाह के स्थायित्व के बारे में हम सुनिश्चित नही थे।

भंडार बढ़ाने के मौद्रिक प्रभावों को कम करने और उदारीकरण से पैदा हुए अवसरों का लाभ उठाते हुए बाह्य क्षेत्र को मजबूत करने की खातिर हमने कई पहल कीं। मसलन, चीनी, खाद्य तेलों, कपास आदि जरूरी चीजों के आयात पर लगे मात्रात्मक प्रतिबधों में ढील दी गई। मुद्राकोष के अनुच्छेद-8 का पालन करते हुए अगस्त 1994 मे हमने चालू खाते की पूर्ण परिवर्तनीयता की ओर कदम बढ़ाया, अल्पकालिक ऋणों की अदायगी के उपाय किए। अप्रवासी विदेशी मुद्रा जमा श्रेणी को चरणबद्ध ढग मे समाप्त किया गया, जिससे भारतीय रिजर्व बैंक को विनिमय गारटी का लाभ मिला। इसके साथ ही भारतीय फर्मो के लिए विदेशी निवेश नीति को आंशिक रूप से उदार बनाया गया।

इन नीतिगत पहल के परिणाम और सबक भी हमारे लिए अनुकूल साबित हुए। जैसे—

1 मार्च 1995 तक हमारे पास इतना विदेशी मुद्रा भंडार हो गया, जो छह महीने के आयात के लिए पर्याप्त था।
2 सन् 1993-94 से 1995-96 के बीच लगातार 3 साल तक निर्यात उफान पर रहा और डॉलर के मुकाबले हर साल 20 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई।
3 विदेशी पूँजी-प्रवाह के लिए वातावरण अनुकूल बना रहा। अलबत्ता, सन् 1994-95 के बाद भडार में आया उफान बराबर हो गया, क्योंकि

औद्योगिक क्षेत्र में प्रगति से आयात मे भारी वृद्धि हुई थी और चालू खाते का घाटा भी बढ़ गया था।

4 औद्योगिक क्षेत्र में तेजी के बल पर कुल मिलाकर आर्थिक विकास दर सन् 1994-95 में 7 प्रतिशत की दर पर पहुँच गई।

5 अल्पकालिक ऋणों की अदायगी मे बाह्य ऋण संकेतकों की स्थिति मे सुधार आया।

नकारात्मक प्रभाव यह रहा कि मौद्रिक वृद्धि दर और मुद्रास्फीति--दोनो मे तेजी आई, लेकिन सन् 1994-95 के बाद मुद्रास्फीति की दर भी काफी कम होने लगी (रेखाचित्र-2)।

व्यापार उदारीकरण

नब्बे के दशक की शुरुआत मे भारत की विदेशी व्यापार व्यवस्था कड़ी बंदिशों की जकड़न मे थी। ख़ासतौर से आयात पर बेहद पाबंदियाँ थीं। जून 1991 मे उच्चतम कस्टम-दरें 300 प्रतिशत तक को छू रही थी। मात्रात्मक प्रतिबंध और आयात पर लाइसेंस होना आम बात थी। सन् 1991 के मध्य तक 80 प्रतिशत आयात मदो पर किसी-न-किसी तरह की बंदिशें थीं। असाधारण उच्च शुल्क-दरों और व्यापक आयात बंदिशो के कारण वर्षो तक उत्पादकता और आर्थिक कार्यकुशलता प्रभावित रही। औद्योगिक उत्पादन बढाने, निर्यात के खिलाफ नीतिगत रुझान घटाने और अर्थव्यवस्था को खुला बनाने के लिए व्यापार नीति का उदारीकरण जरूरी था।

नब्बे के दशक में व्यापार के उदारीकरण को दो मापकों---आयात शुल्क-दरो और मात्रात्मक प्रतिबंधों के पैमानों से देखना जरूरी है। रेखाचित्र 3 मे सन् 1990 और 1999 के शीर्ष कस्टम शुल्क को दरशाया गया है। शीर्ष शुल्क 300 प्रतिशत से घटाकर सन् 1991 से 1993 के बीच 85 प्रतिशत तक पर ले आया गया। फिर जुलाई 1996 में इसे 42 प्रतिशत तक घटा दिया गया। इसके बाद राजस्व तंगियो के कारण कुछ कदम पीछे हटाए गए और सन् 1997 के अंत तक शीर्ष शुल्क बढ़कर 45 प्रतिशत हो गया। मार्च 1999 के बजट मे शीर्ष-दर को घटाकर फिर से 40 प्रतिशत किया गया।

मात्रात्मक प्रतिबंधो के उदारीकरण की दृष्टि से नब्बे के पूरे दशक मे एक ही दिशा में रुझान रहा। सन् 1991-92 के उदारीकरण के दौर में 5000 में से 3000 शुल्क-दरों को लाइसेंस से मुक्त कर दिया गया। इनमें कच्चा माल, माध्यमिक वस्तुएँ और पूँजी सामान से लाइसेंस हटाया गया। बाद के वर्षो में भी उदारीकरण

का दौर जारी रहा। इस समय 12 प्रतिशत शुल्क लाइनें ही बंदिश के दायरे में हैं, जिनमें से अधिकतर उपभोक्ता वस्तुएँ हैं।

व्यापार के उदारीकरण की समीक्षा की दृष्टि से—(क) एकपक्षीय उदारीकरण की पहल, (ख) बहुपक्षीय व्यापार वचनबद्धताओं, (ग) क्षेत्रीय व्यापार सहयोग की पहल की भूमिकाओं पर गौर करना दिलचस्प होगा। शीर्ष कस्टम शुल्क-दरों के हिसाब से एकपक्षीय उदारीकरण वरीयता में सबसे ऊपर रहा है और बहुपक्षीय तथा क्षेत्रीय समझौतों की कोई खास भूमिका नहीं रही है।

बेशक साप्टा और भारत-श्रीलंका व्यापार समझौते जैसी क्षेत्रीय व्यवस्थाओं के लिए अलग से विशिष्ट मदों के लिए शुल्क-दरें हैं, लेकिन इनसे शीर्ष कस्टम दर कुछ ज्यादा प्रभावित नहीं हुई।

कुछ पर्यवेक्षकों का कहना है कि भारत की कस्टम शुल्क-दरें, विश्व व्यापार संगठन के पालन से पैदा होनेवाली अनुबंध-दरों से काफी कम हैं। कुछ घरेलू उद्योग के प्रतिनिधियों ने भारतीय दरों को अनुबंध-दरों के स्तर पर लाने की माँग भी उठाई है, लेकिन घरेलू उद्योग के लिए इस तरह की माँग करनेवालों ने नब्बे के दशक में किए गए कस्टम शुल्क-दर सुधारों को ठीक से नहीं समझा है। सरकार ने बहुपक्षीय व्यापार समझौतों में कुछ ही स्तरों पर अनुबंधों पर विचार करना उचित समझा, वह भी ऐसी जगह, जहाँ विभिन्न मुद्दों में कस्टम भी एक मुद्दा था। ऐसे में अनुबंध-दरों से कस्टम-दरें कम होना कोई विसंगति नहीं है।

मात्रात्मक प्रतिबंधों का मामला थोड़ा भिन्न है। यहाँ क्षेत्रीय और बहुपक्षीय दोनों ही तरह की पहल ने अहम भूमिका निभाई है। कई दशकों से भारत अपनी भुगतान-संतुलन की स्थिति को देखते हुए मात्रात्मक बंदिशों को जायज ठहराता आ रहा था, लेकिन सन् 1993 में यह स्थिति बहुत सुधर गई और ऐसे में आयात पर मात्रात्मक प्रतिबंधों को उचित ठहराना मुश्किल होने लगा।

मात्रात्मक प्रतिबंधों में उदारीकरण को सार्क के तहत की गई क्षेत्रीय सहयोग की पहल से काफी बढ़ावा मिला। सार्क के तहत साप्टा समझौते पर सन् 1993 में हस्ताक्षर किए गए। भारत ने सन् 1998 में सभी सार्क देशों के लिए आयात बंदिशें हटाने की घोषणा कर दी। लिहाजा अभी तक 20,300 उत्पादों को लाइसेंस बंदिश से मुक्त रखा गया है।

बाह्य ऋण-प्रबंधन

सन् 1991 के भुगतान-संतुलन संकट का मुख्य कारण यह भी था कि बाहरी

1 अल्पकालिक बाहरी कर्जों की भरमार से बचा जाए। देश की बाहरी देनदारियों का पूर्ण ज्ञान हो।
2 वास्तविक प्रभावी विनिमय-दर को लगातार बढ़ने से रोका जाए।
3 अवास्तविक विनिमय-दरों को समर्थन देने के लिए विदेशी मुद्रा भंडार में खर्च करने से बचा जाए।
4 घरेलू वित्तीय क्षेत्र को मजबूत बनाया जाए।
5 बैंकिंग प्रणाली को सट्टा बाजार की चपेट में लाने की सीमाएँ हों।
6 चालू खाते के घाटे पर कड़ी निगरानी रखी जाए।
7 पूँजी खाते की परिवर्तनीयता की ओर बढ़ा जाए।

अगर उक्त उपायों को भारत की दृष्टि से देखा जाए तो पता चलता है कि पूर्वी एशियाई संकट शुरू होने से पहले ही भारत ने ये सबक सीख लिये थे। मसलन—

1 अल्पकालिक ऋण सख्त नियंत्रण में थे।
2 बाजार निर्धारित विनिमय-दर प्रणाली को सुव्यवस्थित किया गया था।
3 विदेशी मुद्रा भंडार का कुछ इस्तेमाल हुआ था, लेकिन दिसंबर 1998 तक भंडारण स्तर 27 अरब डॉलर तक बढ़ा लिया गया था।
4 सन 1992 से 1997 के बीच वित्तीय क्षेत्र में सुधार के अनेक उपाय किए गए।
5 वित्तीय संस्थाओं के शेयर और संपत्ति बाजार में प्रवेश पर सख्त नियंत्रण रहे।
6 चालू खाते के घाटे को काबू में रखा गया।
7 विदेशी निवेश और पोर्टफोलियो निवेशकों को पूर्ण परिवर्तनीयता का लाभ मिला, मगर रेजीडेंट फर्मों और व्यक्तियों के लिए कडे पूँजी नियंत्रण थे।

इन अनुकूल परिस्थितियों के बावजूद भारत बाहरी संकट की लहरों में अपने को पूरी तरह नहीं बचा पाया। अगस्त 1997 से जनवरी 1998 के बीच विनिमय बाजार को झटके लगे। बाजार पर माँग का दबाव भी रहा।

पूर्वी एशियाई संकट के प्रभाव से बचने के लिए मौद्रिक प्राधिकार ने जो उपाय किए, वे इस प्रकार हैं—

1 बाजार को स्थिर करने के लिए रिजर्व बैंक ने व्यापक हस्तक्षेप किया।
2 8 प्रतिशत तक अवमूल्यन की विनिमय-दर में लचीलापन रखा गया।

3. मौद्रिक नीतियों को चरणबद्ध ढग से नियंत्रित किया गया।

इन उपायों का जबरदस्त असर हुआ। मार्च 1998 तक विदेशी मुद्रा भडार 26 अरब डॉलर तक पहुँच गया और फॉरवर्ड दरें 10 प्रतिशत गिर गई।

मई से अगस्त 1998 के बीच भारतीय विदेशी मुद्रा बाजार फिर दबाव में आया, क्योंकि परमाणु परीक्षणों के बाद भारत पर आर्थिक प्रतिबंध लगा दिए गए थे। एक बार फिर सरकार ने उक्त उपायों को आजमाया। रिसर्जेंट इंडिया बांड से भारत ने 4 अरब डॉलर जुटाए, जिससे बाजार स्थिर हो गया।

विनिमय-दर प्रबंधन : कुछ विकल्प और मुद्दे

विनिमय प्रबंधन के बारे में तीन महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर गौर करने की जरूरत है। पहला तो यह कि पिछले कुछ दशकों में अंतरराष्ट्रीय प्रणाली किस तरह विकसित हुई? विकासशील देशो पर इसका असर किस तरह हुआ? ऐसे में भारत के सामने क्या विकल्प थे? इस दृष्टि से भारतीय अर्थव्यवस्था तीन में से कोई एक व्यवस्था अपना सकती थी—

1. ऐसी व्यवस्था, जिसमें मुद्रा बोर्ड हो, जो रिजर्व मुद्रा से एक निर्धारित बराबरी बनाए रखे।
2. समायोजन योग्य व्यवस्था, जिसमें किसी एक मुद्रा की कुछ मुद्राओं के समूह के हिसाब से दरें निर्धारित हों।
3. बाजार निर्धारित व्यवस्था, जिसमें रिजर्व बैंक के हस्तक्षेप की गुंजाइश हो।

इनमें से पहली व्यवस्था ब्राजील, अर्जेंटीना और कुछ अन्य लैटिन अमेरिकी देशों ने अपनाई। इसका खास कारण मुद्रास्फीति की बेहद ऊँची दर को नियंत्रित करना था, लेकिन भारत में पिछले तीन दशकों में मुद्रास्फीति 10 प्रतिशत से नीचे ही चल रही है। ऐसे में यह व्यवस्था अपनाने का कोई औचित्य नहीं था।

भारत ने समायोजन प्रणाली अपना रखी थी, लेकिन सन् 1991 के संकट के बाद यह प्रणाली त्यागने की माँग उठी। सरकार के फैसलों में देरी से पेग रेट और बाजार-दरों में अंतर होने की संभावनाएँ थीं। पूँजी खाते की बढ़ती परिवर्तनीयता के दौर में इस प्रणाली को सँभाले रखना संभव नहीं था।

भारत ने सन् 1993 में बाजार-निर्धारित विनिमय दर व्यवस्था अपनाई, जिसमें विदेशी मुद्रा बाजार में माँग और आपूर्ति के हिसाब से दरें तय होती हैं। बाजार में रिजर्व बैंक भी हिस्सेदार है, जो बाजार को स्थिर रखने की भूमिका

निभाता है। रेखाचित्र-11 में भारत की न्यूनतम और वास्तविक विनिमय दरों की झलक दी गई है।

इस व्यवस्था मे दो मुद्दे जुड़े हैं। एक यह कि रिजर्व बैंक मूल बाजार-दरो और अल्पकालिक परिवर्तनों से बदलनेवाली बाजार दरो में कैसे फर्क करे। यह काम बहुत मुश्किल है। ऐसे मे रिजर्व बैंक की भूमिका कोई विज्ञान नही, बल्कि कला की है। समस्या तब बढ़ जाती है, जब राजनीतिक नेतृत्व अवमूल्यन में घाटा देखता है और मूल्य बढने से उसे कोई राजनीतिक फायदा नहीं मिलता।

तीसरा प्रमुख मुद्दा बाजार-दरो की उन गतिविधियों से जुड़ा है, जो संतुलन पथ के आस-पास होनेवाले मूल कारकों के कारण होती है। ये बाजार की भावना और हरकतों से बहुत नजदीकी से जुड़ी होती है। लगातार हस्तक्षेप की स्थिति सँभाले रखना भी रिजर्व बैंक के लिए मुमकिम नही है।

ऐसे में सफल प्रबधन के लिए तकनीकी कौशल, पारदर्शी नीति और भाग्य का साथ होने की जरूरत है। मूल तत्त्व यह है कि बाजार-निर्धारित व्यवस्था मे राजनीतिक नेतृत्व और रिजर्व बैंक—दोनों को ही विनिमय-दरों में लचीलापन लाने की कला सीखनी होगी।

अगले दशक की चुनौतियाँ

नब्बे के दशक की चुनौतियों के आईने मे देखें तो नई सहस्राब्दी के पहले दशक की सबसे बड़ी चुनौती लगातार वैश्विक होते वातावरण, भारतीय अर्थव्यवस्था की उत्पादकता और स्पर्धा-क्षमता बढ़ाना है। यह निर्यात बढ़ाने और सेवाक्षेत्र की मजबूती के लिए भी जरूरी है। उच्च उत्पादक और स्पर्धा-क्षमता खुद ही पैदा नही होगी। इसके लिए दूसरी पीढ़ी के सुधारों को निरंतर अपनाने की जरूरत है। इसके लिए वित्तीय कानूनों, श्रम कानूनों, कंपनी सचालन, दीवालियापन संबधी कानूनों, स्वामित्व, सेवाओं के वितरण, स्वास्थ्य, ग्रामीण बुनियादी ढॉचे और शासन में सुधार की आवश्यकता है।

दूसरे, नए अंतरराष्ट्रीय वित्तीय वातावरण में विकासशील देशों को नए अनुशासन अपनाने होंगे। इसके अलावा पूँजी खाते में परिवर्तनीयता को बढ़ावा देना समय की माँग है। लेकिन ऐसा करते समय जोखिमों पर विशेष ध्यान रखना होगा।

विनिमय-दर व्यवस्था पर भी विशेष नजर रखनी होगी। चुनौती यह होगी कि लचीलेपन के प्रति बाजार जवाबदेह रहे। भारत अब व्यापार के उदारीकरण के रास्ते में दूर दिखाई देता है। इसके लिए बहुपक्षीय व्यापार वार्त्ताओं और साप्टा,

आसियान, एपेक आदि मचों पर सक्रिय भूमिका अपनानी होगी। गशिप्याट स्तर पर कस्टम शुल्क दरो को लाने के लिए साल-दर-साल प्रयास करने होंगे।

भारत को अमेरिकी आर्थिक मंदी के प्रभावों के लिए भी तैयार रहना चाहिए। पिछले 8 सालो में दुनिया के देशो को अमेरिकी अर्थव्यवस्था मे जबरदस्त उफान से काफी फायदा मिला; लेकिन अब मंदी के नुकसान के लिए भी खुद को तैयार रखना चाहिए।

अंत मे, भारत को नई टेक्नॉलॉजी आर बाजार क्षेत्रो की चुनौतियो मे भी निपटना होग। इटरनेट ओर ई-कॉमर्स का इशारा इसी ओर है।

[सेटर फॉर बैंकिंग स्टडीज, सेंट्रल बैंक ऑफ श्रीलका, कोलबो में 9 सितबर, 1999 को दिया गया व्याख्यान।]

1	जी डी पी	6 0	5.4	0 8	5 3	6 2	7 3	7 6	7 8	5 0	6 0
2.	जी.वी.ए. (उद्योग)	7.5	7.2	–1 3	4 2	6.6	9 3	12 2	6 0	5 9	1.1
3.	निर्यात (अमेरिकी डॉलर)	11 4	9.0	–1.1	3 3	20.2	18 4	20 3	5 6	4 5	–3 9
4.	आयात (अमेरिकी डॉलर)	9 4	14 4	–24.5	15.4	10 0	34 3	21 6	12 1	4.6	–7.1
5.	मुद्रास्फीति	6 7	10 3	13 7	10 1	8 4	10 9	7 7	6 4	4.8	6.9
6.	विस्तृत मुद्रा (एम 3)	17 6	15 1	19.3	15.7	18.4	22 3	13.7	16 2	17 9	17 8
7.	सकल घरेलू बचत	20.6	24.3	22 9	22.0	21 8	24 2	24.1	24 4	23 1	–
8.	सकल घरेलू निवेश	23.1	27 7	23 4	23 9	22 4	25 4	25 8	25 7	24.8	–
9.	चालू लेखा शेष	–2.1	–3 0	–0 3	–1 7	–0.4	–1 0	–1 6	–1.2	–1 3	–0 9
10	जी.एफ डी. (केंद्र व राज्य)	8 7	9.2	6.8	6.8	8 1	6 9	6 4	6.2	7 1	8.4

	1985–90 का औसत	1990–91	1991–92	1992–93	1993–94	1994–95
निर्यात विकास (अमेरिकी डॉलर में)	11.4	9.0	−1 1	3 3	20.2	18.4
आयात विकास	9 4	14.4	−24 5	15 4	10.0	34.3
व्यापार घाटा (जी डी पी का प्रतिशत)	−2.9	-2 9	-1 0	−2 1	−1.5	−2 7
चालू खाता घाटा (जी.डी.पी. का प्रतिशत)	−2 1	−3 0	−0 3	-1 7	−0 4	−1 0
विदेशी निवेश (मिलियन डॉलर)		103	133	559	4.153	5,138
क. प्रत्यक्ष		(97)	(129)	(315)	(586)	(1,314)
ख. पोर्टफोलियो (एफ आई.आई • जी.डी.आर. तथा अन्य)	-	(6)	(4)	(244)	(3,567)	(3,824)
पूँजी खाता मुनाफा	5,099	8,402	4,563	4,224	9,882	8,013
विदेशी मुद्रा भंडार	5,022	2,236	5,631	6,434	15,068	20,809
विदेशी मुद्रा भंडार में बदलाव	-423	1,132	3 395	803	8,634	5,741
विनिमय-दर (रु./अमेरिकी डॉलर)	13 8	17 9	24.7	29 0	31 4	31 4

नोट 1 सन् 1990–91 के बाद विदेशी मुद्रा भंडार [illegible] है।

2 विनिमय दर अवधि का औसत है।

तालिका 3

सुधार-कार्यक्रम शुरू होने के शुरुआती 3 वर्षो में औसत आर्थिक विकास

(प्रतिशत)

ारत (1991-92)	6.4
30 विकासशील देशों का औसत	2.2
केनिया (1981)	2.4
नाइजीरिया (1983)	2.1
मेक्सिको (1983)	0 6
ाईलैंड (1983)	5.1
तुर्की (1980)	4 1

नोट कोष्ठक में दिया गया वर्ष उस वर्ष को दरशाता है, जिसमे सुधार कार्यक्रम शुरू किए गए।

्रोत भारत के लिए सी एस ओ । अन्य देशो के लिए—'रीस्ट्रक्चरिंग इकॉनॉमिक्स इन डिस्ट्रेस, पॉलिसी रिफार्म्स एंड द वर्ल्ड बैंक' मे (थॉमस, छिब्बर, डैलामी तथा डी मैलो) 'मैक्रोइकॉनॉमिक परफॉरमेंस अंडर एडजस्टमेंट लेंडिंग' (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1991)।

तालिका-4

भारत के आयात पर लगाए गए विभिन्न प्रकार के एन.टी.बी., 1996-97, 1998-99 (प्रशुल्क लाइनों की संख्या, 10 अंकीय*)

पैनल : ए

	1 4.1996 के अनुसार		1 4 1997 के अनुसार		1 4 1998 के अनुसार		1.4.1999 के अनुसार	
एन टी.बी. का प्रकार	लाइनों की संख्या	% अंश	लाइनों की संख्या	% अंश	लाइनों की संख्या	% अंश	लाइनों की संख्या	% अंश
निषेधात्मक	59	0.6	59	0 6	59	0.6	59	0.6
प्रतिबंधित	2,984	29.6	2,322	22.8	2,314	22 7	1,183	11 5
एकत्रित	127	1 2	129	1.3	129	1 3	37	0.4
एस आई एल	765	7.6	1,043	10 2	919	9.0	886	8 7
मुक्त	6,161	61 0	6,649	65.1	6,781	66 4	8,055	78.8
कुल	10,096	100 0	10,202	100 0	10,202	100.0	10,220	100 0

* भारतीय व्यापार वर्गीकरण की हार्मोनाइज्ड प्रणाली के अनुसार। एच एस -आई टी सी आयात तथा निर्यात मदों का वर्गीकरण।

स्रोत डी जी एफ टी , वाणिज्य मंत्रालय।

पैनल बी

भुगतान संतुलन कवच के अतर्गत विश्व व्यापार सगठन को अधिसूचित एन.टी.बी. की स्थिति

(1 4.1999 के अनुसार 8 अंकीय *)

विश्व व्यापार संगठन को अधिसूचित मदो की कुल सख्या	2,714
मुक्त सूची में मदों की कुल संख्या	1 298
प्रतिबधित मदें	702
एस आई एल मदें	679
एकत्रित मदे	35

तालिका-5

बाहरी ऋण संकेतक

(प्रतिशत मे अनुपात)

वर्ष	1991	1992	1993	1995	1997	1999
कुल ऋण/सकल घरेलू उत्पाद	28 0	37 7	36 6	30 0	23 8	23 7
ऋण भुगतान/चालू प्राप्तियाँ	35 3	30.2	27 5	26 2	21 2	18 0
कम अवधि के ऋण/कुल ऋण	10 2	8.3	7.0	4.3	7 2	4 4
कम अवधि के ऋण/भंडार	382.1	125.6	98 5	20 5	30 1	14 7
ब्याज का भुगतान/चालू पाप्ति	15 5	13 0	12 5	9 7	7 3	8 0

नोट स्टॉक आँकडे (कुल ऋण, कम अवधि तथा भडार) सर्वाधित वर्षो मे 31 मार्च के लिए हैं। प्रवाह आँकड़े (ऋण भुगतान, ब्याज, चालू प्राप्ति तथा सकल घरेलू उत्पाद) वित्त वर्ष से, अर्थात् 1991 के आँकडे 1 अप्रैल, 1990 से 31 मार्च, 1991 तक से संबंधित हैं।

* भारतीय व्यापार वर्गीकरण की हारमोनाइज्ड प्रणाली के अनुसार। एच.एस -आई टी.सी आयात तथा निर्यात मदो का वर्गीकरण।

तालिका 6

सर्वोच्च ऋणी पंद्रह देशों की अंतरराष्ट्रीय तुलनात्मक स्थिति, 1997

क्रम	देशों की पदानुसार स्थिति	कुल बाहरी ऋण	जी.एन.पी. की तुलना में ऋण	कम अवधि से कुल ऋण	वस्तुओं एवं सेवाओं के निर्यात में ऋण-सेवा
		(मिलियन अमेरिकी डॉलर)		(प्रतिशत में अनुपात)	
1	ब्राजील	193663	24	19	57
2	मेक्सिको	149690	38	19	32
3	चीन	146697	17	21	9
4	कोरिया	143373	33	38	9
5	इंडोनेशिया	136174	65	26	30
6	रूसी गणराज्य	125645	26	5	7
7	अर्जेंटीना	123221	39	15	59
8	भारत	94404	25	5	20
9	थाईलैंड	93416	63	37	15
10	तुर्की	91205	47	25	18
11	मलेशिया	47228	51	32	8
12	फिलीपींस	45433	53	26	9
13	पोलैंड	39890	30	10	6
14	वेनेजुएला	35542	42	12	31
15	कोलंबिया	31777	35	18	27
	दक्षिण एशिया				
	पाकिस्तान	29665	48	8	36
	बँगलादेश	15125	35	1	11
	श्रीलंका	7638	51	6	6

नोट : क्रम संख्या 1 से 15 पर कुल ऋण के आधार पर देशों को रखा गया है।

स्रोत . ग्लोबल डेवलपमेंट फाइनेंस, 1999, कंट्री टेबल, वर्ल्ड बैंक।

रेखाचित्र-1 : 1991 के सकट स

पैनल : क
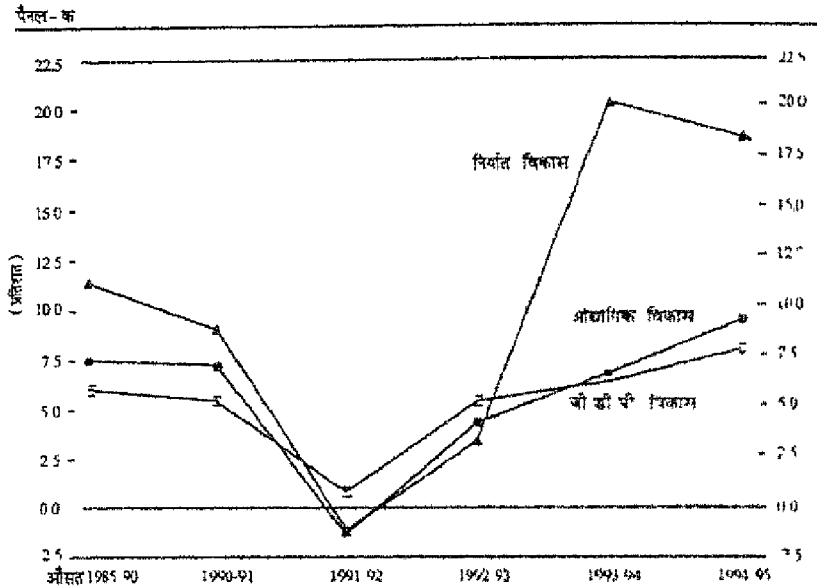
पैनल : ख
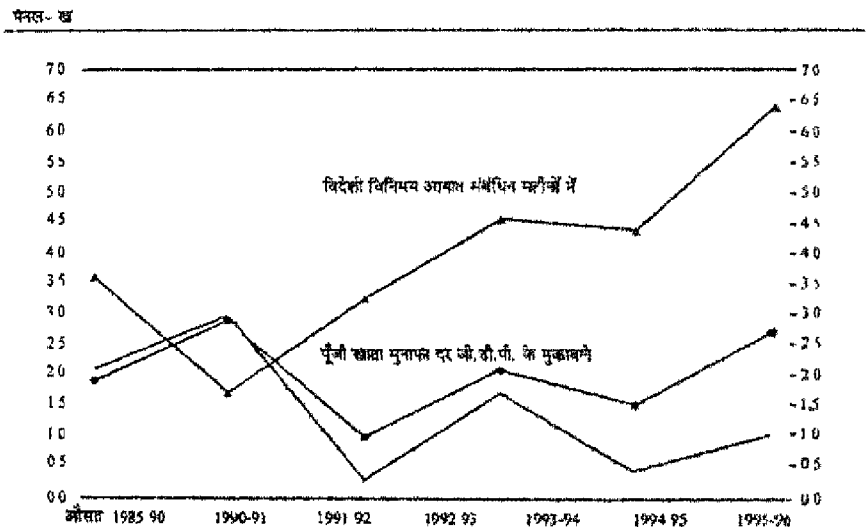
3, डब्ल्यू.पी.आई. और एफ.सी.ए. का माहवार क्रम

1994-95

1995-96

विदेशी मुद्रा सम्पत्ति (यू एस बिलियन में)
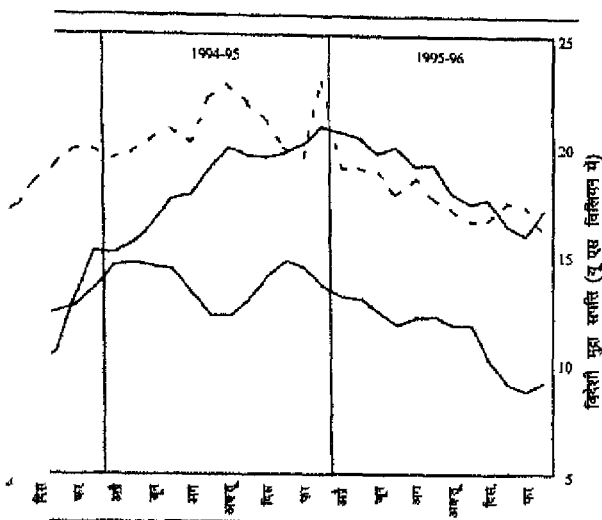
...म शुल्क तथा कस्टम शुल्क वसूली पर 1990-91 से 1999-2000
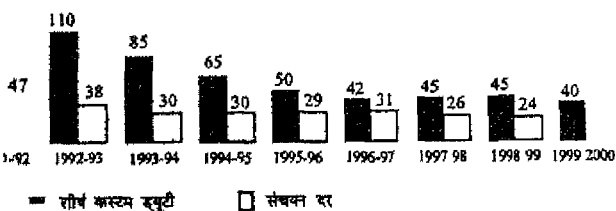
रेखाचित्र-4 . कम अवधि का ऋण-अनुपात
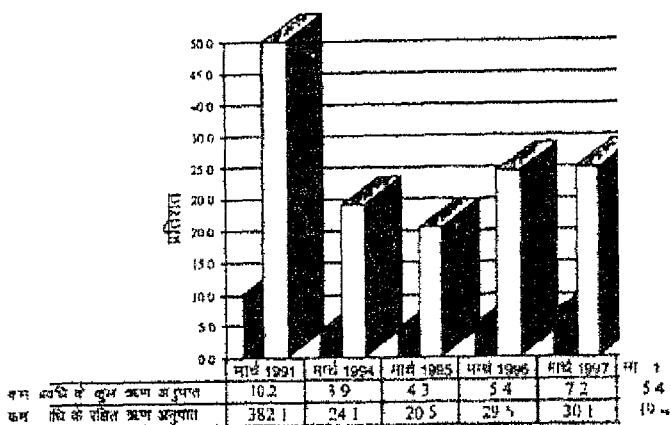
रेखाचित्र-5 : ऋण और जी.एन.पी. अनुपात, 1997 का अन्त तुलनात्मक अध्ययन
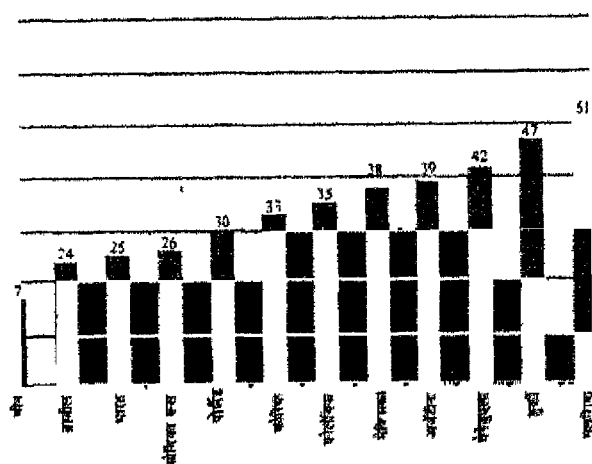
ऋण सेवा और वस्तु तथा सेवा निर्यात अनुपात का अंतरराष्ट्रीय तुलनात्मक अध्ययन
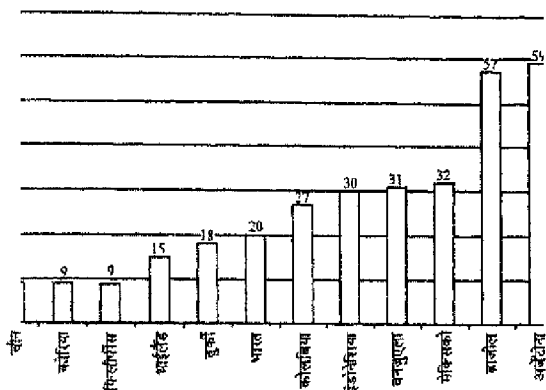
तरराष्ट्रीय तुलना—लघु अवधि और कुल बाहरी ऋण, 1997 का अनुपात
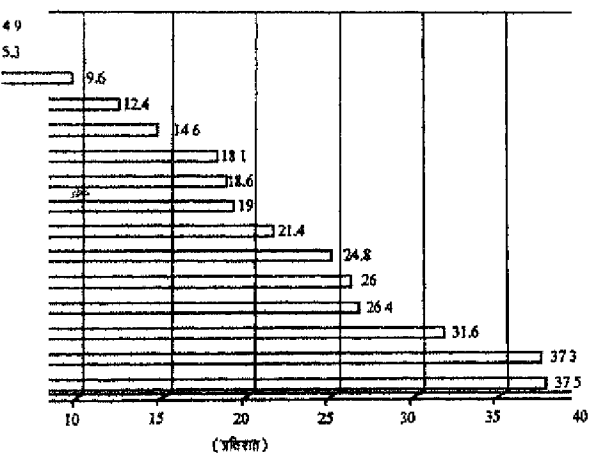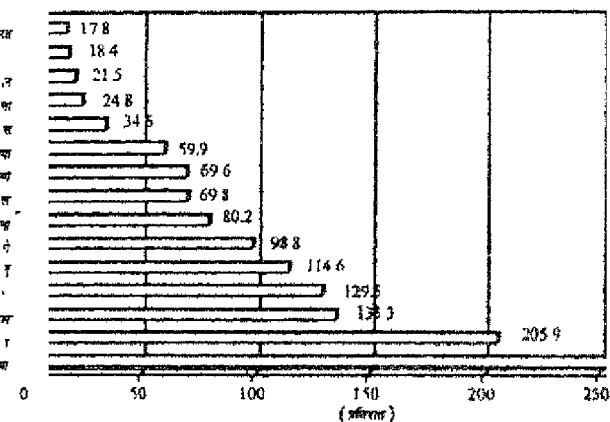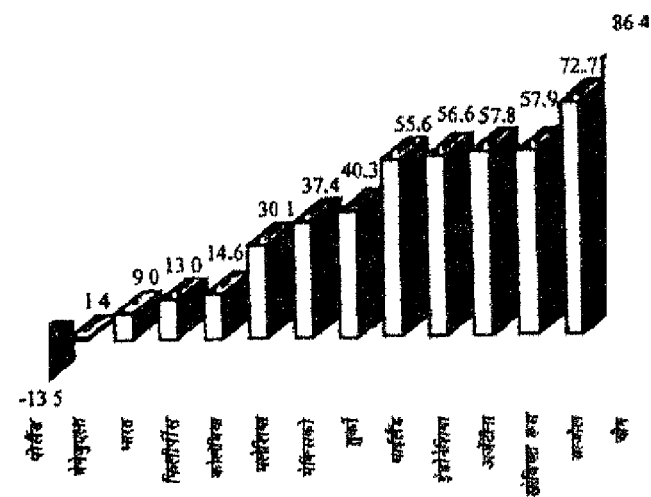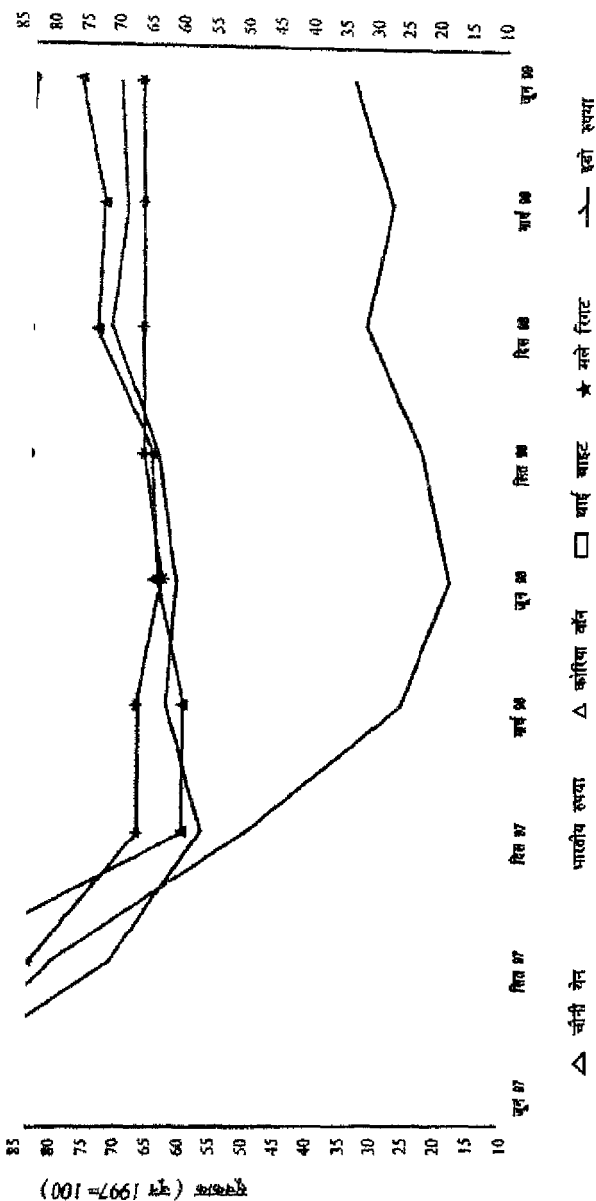
रेखाचित्र-11 · नब्बे के दशक में विनिमय-दर का रुझान

पैनल : क

भारतीय रुपए की अमेरिकी डॉलर की तुलना में विनिमय दर (अवधि औसत)
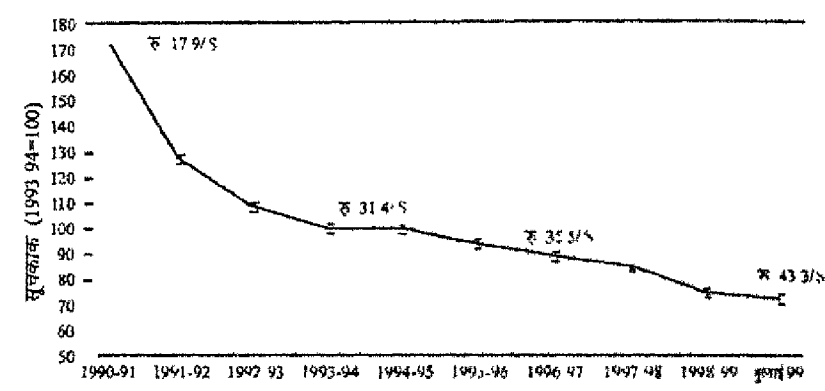
पैनल : ख
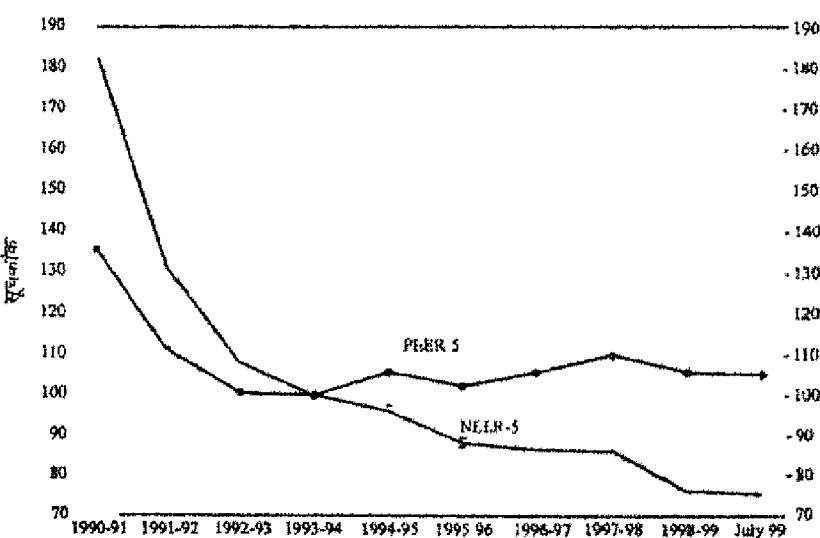
विदेशी मुद्रा-बाजार का विकास तथा प्रबंधन

—बिमल जालान

बाहरी क्षेत्र के प्रबधन से संबंधित नीतिगत मुद्दों, विशेषकर समुचित विनिमय दर प्रणाली, उपयुक्त हस्तक्षेप नीति तथा विदेशी मुद्रा विनिमय भंडारण नीति इन दिनों तमाम अंतरराष्ट्रीय मंचो, जैसे—अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, जी 20, वित्तीय स्थिरता मंच तथा बैंक ऑफ इंटरनेशनल सेटलमेंट्स सरीखे मंचो पर जारी विचार-विमर्श मे प्रमुखता से उठाए जा रहे हैं। भारत इन सभी वैचारिक प्रक्रियाओं में सेंट्रल बैंक के गवर्नरों और औद्योगिक तथा अन्य विकासशील देशो के वित्त मंत्रियो के साथ भाग लेता रहा है। पिछले कुछ वर्षो मे हमे विदेशी मुद्रा बाजारों के व्यवहार और उनके विनिमय संबंधी पहलुओं के बारे मे भी अनुभव प्राप्त हुए है, लेकिन यह बहस सैद्धांतिक और व्यावहारिक दृष्टि से अभी अधूरी ही है। कई मुद्दों पर विश्वव्यापी स्तर पर सहमति कायम करने की प्रक्रिया जारी है। इस अध्ययन में विदेशी मुद्रा बाजार को प्रभावित करनेवाले कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विचार किया जाएगा।

इनमें सबसे प्रमुख समुचित विनिमय-दर व्यवस्था का मुद्दा है, जिसपर साहित्य और विभिन्न अंतरराष्ट्रीय मचों पर भी व्यापक विचार-विमर्श हुआ है। इस संदर्भ में कथित असंभव तिकड़ी, यानी पूर्ण पूँजी लेखा परिवर्तनशीलता (सी.ए.सी.), मौद्रिक आजादी (मुद्रास्फीति नियत्रण के लिए) तथा एक स्थिर मुद्रा का जिक्र किया जा सकता है।

यदि सी.ए.सी. को स्वीकार किया जाए तो सर्वमान्य सिद्धांत के अनुसार, मौद्रिक आजादी को छोड़कर मुद्रा बोर्ड के गठन का विकल्प आपके पास बचता है या फिर स्थिर मुद्रा लक्ष्य को छोड़कर विनिमय-दर को मुक्त रखा जाए, ताकि उस स्थिति में मौद्रिक नीति को मुद्रास्फीति नियत्रण के लक्ष्य के मुताबिक निर्देशित किया जा सके। इस परिदृश्य मे विनिमय-दर का महत्त्व तभी है, जब वह घरेलू

मुद्रास्फीति को प्रभावित करती हो। सिद्धांत रूप में, ऐसे में मुक्त प्रवाह या मुद्रा बोर्ड के गठन संबंधी दृष्टिकोण को अपनाने की सलाह दी जाती है।

परंतु वास्तव में अधिकांश बैंकों द्वारा अपनाई गई नीति सैद्धांतिक दृष्टिकोण से भिन्न होती है। उदाहरण के तौर पर, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के हाल के अध्ययन के मुताबिक, औद्योगिक देशों समेत अधिकतर देशों द्वारा अपनाई गई व्यवस्था न तो मुद्रा बोर्ड की है और न ही मुक्त प्रवाह की। ज्यादातर देशों ने बीच की स्थिति चुनी है, जो कई प्रकार की व्यवस्थाओं का मिश्रण है। कुल मिलाकर कुछेक देशों को छोड़कर सभी ने किसी-न-किसी तरह 'फ्लोट' व्यवस्था से काम चलाया है। ई सी बी के संदर्भ में हाल की अवधि से और जापान के मामले में भी पारंपरिक तौर पर यही लागू होता है। अमेरिका ने भी यूरो अथवा येन के पक्ष में अभियान के लिए ई सी बी या बी ओ.जे सहित हस्तक्षेप किया है।

इसलिए यह वास्तविकता है कि मुद्रा बोर्ड या 'फ्री फ्लोट' की विशुद्ध सैद्धांतिक स्थिति की परवाह किए बगैर किसी भी मुद्रा का बाहरी मूल्य अधिकांश देशों तथा सेंट्रल बैंकों के लिए चिंता का विषय बना हुआ है।

विभिन्न देश मनोवैज्ञानिक और कुछ हद तक वास्तविक कारणों से विनिमय दर को लेकर चिंतित रहते हैं। दरअसल, मुद्रा की घटती कीमतों को लेकर छपनेवाली खबरें—'न्यूनतम स्तर पर' या 'कमजोर' अथवा 'लुढ़कना' आदि किसी भी देश की मुद्रा की स्थिरता पर नकारात्मक असर डालते हैं। आम आदमी इस प्रकार की बातों से प्रभावित होता है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने देश की मुद्रा या अर्थव्यवस्था को कमजोर या गिरती हुई नहीं देखना चाहता। ऐसे में बेहतर होगा कि विनिमय-दरों में आनेवाले उतार-चढ़ाव के बारे में बताने के लिए ऐसी नई शब्दावली तैयार की जाए, जो कम हो।

विनिमय दर को लेकर व्यक्त चिंताएँ कुछ हद तक वास्तविक भी हैं, जैसा पूर्वी एशिया, रूस और अन्य देशों में हुआ। मुद्रा के मूल्य में तेजी से आए परिवर्तन वास्तविक अर्थव्यवस्था पर असर डालते हैं। जहाँ एक ओर इसमें आई तेजी से निर्यातक प्रभावित होते हैं, वहीं मूल्य में तेज गिरावट होने से बैंकों के बरबाद होने या दीवालिया होने की आशंका बढ़ जाती है।

हाल के वर्षों में विनिमय-दर के उतार-चढ़ाव तय करने में व्यापार घाटे तथा आर्थिक विकास की बजाय पूँजी-प्रवाह का महत्त्व बढ़ा है। उदाहरण के लिए, सबसे अधिक व्यापार घाटेवाले देश अमेरिका की मुद्रा आज सबसे मजबूत है। उधर हाल के वर्षों तक व्यापार के क्षेत्र में बेहतर प्रदर्शन करनेवाले यूरोप की मुद्रा

अधिक कमजोर मुद्राओं में से एक है। दुनिया भर में, चाहे वह पूर्वी एशिया हो, न्यूजीलैंड, दक्षिण अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया--सभी जगह यही दोहराया जा रहा है।

विनिमय-दर को प्रभावित करनेवाला 'सकल' पूँजी-प्रवाह किसी भी दिन विशेष में होनेवाले कुल प्रवाह से कई गुना अधिक हो सकता है और विदेशी व्यापार या आर्थिक विकास की तुलना में यह कहीं अधिक संवेदनशील भी है। ऐसी स्थिति में भीड़ की प्रवृत्ति अपरिहार्य है। दरअसल, प्रत्येक डीलर अकेले गलत होने की बजाय सामूहिक तौर पर गलत होने को उचित मानता है। इस स्थिति में हमें हाल के अनुभव से स्पष्ट है कि सेंट्रल बैंक को किसी-न-किसी प्रकार हस्तक्षेप करना होगा। हालाँकि हस्तक्षेप का दर्जा एक सेंट्रल बैंक से दूसरे से भिन्न हो सकता है, परन्तु विनिमय-दरों के संबंध में चिंता ऐसा तथ्य है, जिससे आनेवाले कुछ समय तक तो हमारा सामना होना तय है।

भारत किसी निश्चित दर का लक्ष्य निर्धारित किए बगैर ही 'फ्लोटिंग' व्यवस्था से काम चला रहा है। रिजर्व बैंक हर रोज के उतार-चढ़ाव पर नजर रख रहा है। हमारे बाजार फिलहाल सुदृढ़ नहीं हैं और रिजर्व बैंक की घोषित नीति को समय-समय पर उभरनेवाले अस्थायी माँग-आपूर्ति असंतुलन का मुकाबला करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, हाल की अवधि में तेल की कीमतों में असाधारण रूप से आई तेजी के बाद रिजर्व बैंक ऋण संबंधी जरूरतों के अलावा आई ओ सी. की तेल-आयात आवश्यकताओं से सीधे निबट रहा है। ऐसे में यह सुनिश्चित करना होता है कि मुद्रा की तरलता का संकट न हो और अफवाह या आशंका से मुद्रा बाजार प्रभावित न हो।

दरअसल, विनिमय-बाजारों के वास्तविक अनुभव को ध्यान में रखते हुए सी ए सी , मौद्रिक आजादी तथा विनिमय-दर स्थिरता की 'नापाक' तिकड़ी की सैद्धांतिक स्थिति में भी बदलाव हुआ है। कुछ प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अब सी.ए सी को स्थायी या अस्थायी रूप से छोड़ने के पक्ष में हैं। कुछ अन्य मध्यवर्ती व्यवस्था का समर्थन करते हैं।

एक अन्य मुद्दा विनिमय-दर के प्रबंधन से संबंधित है। ऐसे में एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि 'नॉमिनल' दरों की निगरानी की जाए या आर ई.ई आर की? प्रतियोगी दृष्टिकोण से तो आर ई.ई आर की ही निगरानी की जानी चाहिए, क्योंकि यह वास्तविक रूप में व्यापारिक भागीदारों और मुद्रा के बाहरी मूल्य में आए बदलाव को दरशाता है। अलबत्ता, कम अवधि की निगरानी के लिए यह सही नहीं है—क्योंकि 'नॉमिनल' दरें काफी संवेदनशील होती हैं और

खबरों में भी छाई रहती है। (उदाहरण के लिए—डॉलर-यूरो या डॉलर-येन के व्यवहार के संबंध में शायद ही कोई इन मुद्राओं की वास्तविक दरों के बारे में बात करता हो), यानी कम अवधि के संदर्भ में 'नॉमिनल' दर की निगरानी करने के अलावा कोई और चारा नहीं है।

हालाँकि इस बात से सभी सहमत हैं कि किसी भी मुद्रा की कीमत को सभी प्रमुख मुद्राओं के संदर्भ में आँका जाना चाहिए, परंतु खबरों के शीर्षक या डीलरों की टिप्पणियाँ डॉलर पर ही टिकी होती हैं। शायद ही आपने कभी सुना हो कि पाउंड की कीमत यूरो या येन की तुलना में अपने अधिकतम स्तर तक बढ़ गई है। हम हमेशा येन, यूरो या पाउंड को डॉलर के आईने में ही आँकते हैं। निश्चित रूप से इसके पीछे बड़ा कारण मौजूद है, क्योंकि व्यापार में डॉलर रूपी मुद्रा का ही ज्यादा प्रयोग होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सेंट्रल बैंक पसंद करें या नहीं, मगर उन्हें अमेरिकी डॉलर पर ही सबसे ज्यादा ध्यान देना होगा।

विनिमय-बाजारों में 'स्थिरता' और 'अस्थिरता' का मुद्दा भी अहम है। सिद्धांत रूप में पूँजी-प्रवाह मजबूत होने की स्थिति में विनिमय-दरों के बढ़ने की तथा कमजोर होने पर दरों के घटने की अपेक्षा की जाती है, परंतु दुर्भाग्यवश व्यवहार रूप में अनिश्चितता या उथल-पुथल के दौर में सेंट्रल बैंकों के पास यह विकल्प नहीं रहता, क्योंकि बाजार का व्यवहार दोनों दिशाओं में एक समान नहीं होता।

विदेशी मुद्रा-प्रबंधन पर जारी विचार-विमर्श के दौरान विदेशी मुद्रा भंडार के प्रबंधन के लिए समुचित नीति का मुद्दा भी काफी महत्त्वपूर्ण है। 'फ्री फ्लोट' व्यवस्था के तहत यह तर्क दिया जा सकता है कि भंडारण की कोई आवश्यकता नहीं है। कुछ देश, जिनमें मौद्रिक नीति केवल मुद्रास्फीति नियंत्रण के एकमात्र लक्ष्य पर ही ध्यान केंद्रित करती है, वास्तव में भंडारण ही नहीं करते। अलबत्ता, पूँजी-प्रवाह द्वारा प्रेरित अनिश्चितता को देखते हुए अब उभरते बाजारों में 'पर्याप्त' भंडार रखने के बारे में सर्वसम्मति तैयार हो रही है। 'गिदौती नियम' (Guidotti's Rule) के अनुसार, जिसका उल्लेख एलन ग्रीनस्पैन ने भी किया है, समुचित भंडार इतना हो कि उससे एक साल के आयात तथा पूँजी-प्रवाह आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके।

भारत में, हम भंडार-प्रबंधन के क्षेत्र में तरलता तथा आयात जरूरतों का ध्यान रखते हैं। यही कारण है कि हमने पिछले कुछ वर्षों के दौरान अपने भंडार में 10 अरब अमेरिकी डॉलर की वृद्धि की है और तेल की ऊँची कीमतों के लिहाज

य किए हैं। अब हमारा भंडार लंबे समय तक तेल के बोझ तथा पूँजी-
शानेवाले उतार-चढावों की स्थिति से निपटने के लिए पर्याप्त है। हमने
ध के अपने ऋणो को घटाने की दिशा में काफी सोच-विचारकर तैयार
ति पर अमल किया तथा यह भी सुनिश्चित किया कि अनिवासी भारतीयो
अवधि की जमा राशि, जो एफ सी.एन आर.बी. खातो में रखी जाती है,
स्वीकार करनेवाले बैंको की विदेशी परिसपत्तियो के मुकाबले की हो।

*1 दिसबर, 2000 को नई दिल्ली मे आयोजित इक्कीसवी एशिया-प्रशांत
उद्‌घाटन भाषण।]*

□

भारतीय अर्थव्यवस्था और भूमंडलीकरण

—उमा कपिला

क्या है भूमंडलीकरण?

हम प्रौद्योगिकी के ऐसे युग में जी रहे हैं, जहाँ समय और स्थान की दूरियाँ सिमट गई है और पूरी दुनिया एक गाँव में तब्दील हो गई लगती है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने विभिन्न देशों को अपने रक्षा कवच से बाहर आने और शेष दुनिया के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने के लिए मजबूर किया है, ताकि एक नई विश्व-व्यवस्था कायम हो सके।

परिवहन और संचार के क्षेत्र में हुई तकनीकी क्रांति से भौगोलिक दूरियाँ लाँघने का समय और लागत बहुत कम हो गई है। इस रफ्तार को जब हम देखते हैं तो एहसास होता है कि हम विकास के एक नए दौर में प्रवेश कर चुके हैं, दुनिया के देश बहुत निकट तथा एक दूसरे पर परस्पर निर्भर होते जा रहे हैं।

भूमंडलीकरण की इस प्रक्रिया में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का जबरदस्त विस्तार हुआ है। विश्व भर में निर्यात सन् 1950 के 610 लाख अमेरिकी डॉलर से बढ़कर सन् 1970 के 31 करोड़ 50 लाख डॉलर और सन् 1990 में 3 अरब 44 करोड़ 70 लाख डॉलर तक पहुँच गया। दिलचस्प बात यह है कि व्यापार में यह वृद्धि विश्व में कुल उत्पादन-वृद्धि से अधिक रही। विश्व के सकल घरेलू उत्पाद में निर्यात का हिस्सा सन् 1950 के 6 प्रतिशत से बढ़कर सन् 1992 में 16 प्रतिशत हो गया। अंतरराष्ट्रीय निवेश-प्रवाह में भी इतनी ही आश्चर्यजनक बढ़ोतरी हुई। दुनिया की अर्थव्यवस्था में प्रत्यक्ष वित्तीय निवेश कभी सन् 1960 में 6 करोड़ 80 लाख डॉलर था, जो सन् 1992 में 1 अरब 94 करोड़ 80 लाख डॉलर तक पहुँच गया। ये आँकड़े वास्तव में हैरत में डालनेवाले हैं और जिन देशों ने खुद को विश्व अर्थव्यवस्था से सफलतापूर्वक जोड़ लिया, वहाँ का जीवनस्तर और नौकरी के अवसरों में काफी बढ़ोतरी हुई। ऐसे में भूमंडलीकरण के फायदों को नजरंदाज नहीं किया जा सकता।

लेकिन यह भी सच है कि भूमंडलीकरण के लाभ सभी देशो को समान रूप से नही मिल पाए हैं। असमानताएँ और विभेद भी एकदम स्पष्ट हैं। कुछ को इस प्रक्रिया से बहुत फायदे हुए, कुछ को कम लाभ मिले और कुछ हाशिये पर ही रहे, लेकिन अगर यह सोच लिया जाए कि फायदों के इस असमान वितरण की वजह से पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था लौट आएगी तो यह मानवीय इतिहास की इस घटना का गलत आकलन होगा। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया क्षेत्रीय साम्राज्य के विस्तार की आकांक्षा से प्रेरित नहीं है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी से ऐसी शक्ति और गति पनप रही है, जो मानव-मन मे अपने से आगे चलनेवालों को पकड़ने और नए मोर्चो पर विजय-पताका फहराने की कुदरती इच्छाशक्ति पैदा कर रही है। इसी का नतीजा है कि हम सम्मिलन की एक नई प्रक्रिया का उदय होते देख रहे हैं।

आबिद हुसैन का कहना है—भूमंडलीकरण को स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं है कि हम अंतरराष्ट्रीय सहयोग, अंतरराष्ट्रीय बैंकों या वित्तीय संस्थानो से संचालित दबावो, व्यवस्थाओं और जोड़-तोड़ के सामने घुटने टेक दें, जिससे हमारी घरेलू अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाए। भूमंडलीकरण से जुड़ी असमानताओ, विभेदो, शोषण और अन्य अवांछित बातों पर पैनी नजर रखनी होगी तथा निरंतर राजनीतिक प्रयासों द्वारा इन बातो से निपटना होगा, क्योंकि कोई राष्ट्र राज्य इन नाजुक मुद्दो की ओर से आँखें नही मूँद सकता। राष्ट्र राज्य की अवधारणा से प्रभावित बहुपक्षीय ढाँचे से भूमंडलीकरण के दुष्प्रभावों से निपटा जा सकता है।

विकसित देशों को भूमंडलीकरण से कुल मिलाकर फायदे ही हुए है। इसका कारण यह है कि इसकी शुरुआत उन्होंने ही की थी और वे नई प्रौद्योगिकी से उपजी नई परिस्थितियों और अवसरों का सामना करने के लिए अच्छी तरह तैयार थे। उन्होने परिवहन और संचार के क्षेत्र में हुई प्रगतियों का भरपूर लाभ उठाया। विकसित देशों को भूमंडलीकरण से हुए फायदों को देखते हुए विकासशील देशों के मन में अपने हितों को लेकर शंका पैदा होने लगी, लेकिन सरहदों को अब बंद नहीं रखा जा सकता और विचारों का प्रवाह रोका नहीं जा सकता। हम भूमंडलीकरण से जुड़ी आशंकाओ के कारण कदम पीछे नहीं खींच सकते। हमें आगे बढ़ने के लिए तैयार होना होगा। इसके फायदे उठाने होंगे और मुनाफों को दूसरों के साथ मिलकर बाँटना होगा।

भूमंडलीकरण और भारतीय अर्थव्यवस्था

ऐसा नहीं है कि बाहरी ताकतों का सामना भारतीय नहीं कर सकते या

विदेशी हमें खुली प्रतियोगिता के दौर में आसानी से पछाड़ देंगे। जो लोग इस धारणा में विश्वास रखते हैं वे वास्तव में भारत की ताकत से परिचित नहीं हैं। भारत के पास दुनिया की बेहतरीन ताकत से मुकाबला करने के लिए प्रतिभा, संसाधन और बौद्धिक क्षमता है। यह सही है कि भारतीय दूसरों से बेहतर नहीं हैं, मगर इतना तय है कि वे हर दृष्टि से उनके बराबर जरूर हैं।

विश्वास में कमी होने का एक कारण लंबे समय तक जारी लाइसेंस राज के कारण तैयार हमारी मानसिक स्थिति हो सकती है, जिसने हमें मुक्त बाजार की परिस्थितियों से दूर रखा और हमारे उद्योगों को अत्यधिक संरक्षित माहौल प्रदान किया। दरअसल, यदि हम असाधारण उद्यम क्षमतावाले अपने उद्योग घरानों की समीक्षा करें तो हमें सहज ही विश्वास हो जाएगा कि प्रतियोगिता में हम टिक सकते हैं। सॉफ्टवेयर जैसी नई प्रौद्योगिकी के मामले में तो आलम यह है कि जापान हो या अमेरिका, हर जगह भारतीय विशेषज्ञ की ही तलाश रहती है, जो हमारी क्षमता का जीता-जागता प्रमाण है, यानी यह विचार सरासर गलत है कि प्रतियोगिता का मुकाबला भारतीय नहीं कर सकते।

भारतीय निर्माण प्रतिभा पर भी किसी ने अँगुली नहीं उठाई, परंतु भारतीय उत्पाद प्रायः दोषपूर्ण पाए गए या फिर वे विश्वस्तरीय नहीं रहे हैं। इसका कारण भी सरकार की सख्त नीतियाँ रही हैं, जिनके चलते भारतीय उद्यमी को अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी, उपकरण और निवेश के क्षेत्र में चुनाव की आजादी नहीं थी। इस बात के पर्याप्त सबूत मौजूद हैं कि जब सरकार ने मुक्त बाजार के पक्ष में नीतियों में बदलाव किया तो भारतीय उत्पाद अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता की टक्कर के रहे। दरअसल, मूल समस्या आर्थिक दौर के कारण थी, न कि भारतीय उद्यमियों के कारण ऐसा था।

वास्तव में प्रतियोगिता भूमंडलीकरण का मूल तत्त्व है। भूमंडलीकरण के लाभ उसे ही मिलते हैं, जो इस प्रतियोगिता में सफल होता है। किसी भी उद्योग के लिए अंतरराष्ट्रीय बाजार में उतरना ओलंपिक खेलों में भाग लेने जैसा है। ओलंपिक में प्रतियोगियों को न सिर्फ अपने, बल्कि दूसरों के भी रिकॉर्ड तोड़ने होते हैं।

जैसा आबिद हुसैन का कहना है, खेलने के लिए खिलाड़ियों को ईमानदारी से नियमों का पालन करना होता है। यह देखना रेफरी का काम है कि खेल के नियमों का पालन पूरी तरह किया जा रहा है या नहीं। भारत को इस बात पर जोर देने का पूरा अधिकार है कि सभी के लिए प्रतियोगिता के समान अवसर उपलब्ध हों। यदि ऐसा नहीं होता तो निश्चित रूप से यह सरकार का कर्तव्य है कि वह सभी

के लिए एक जैसी परिस्थितियाँ सुनिश्चित करे। यह माना जा सकता है कि भारत जैसे देश को अपने खिलाड़ी तैयार करने के लिए समय चाहिए, ताकि उन देशो से स्पर्धा करने के लिए वे तैयार हो सके, जिन्हे किसी खेल विशेष में पहले से ही विशेषज्ञता प्राप्त है, लेकिन सरकार को इस तैयारी के लिए अनावश्यक रूप से अधिक समय नहीं लेना चाहिए।

हमें यह भी सुनिश्चित करना होगा कि हमारे उद्यमियो की पहुँच अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी तक हो, क्योंकि यही अधिक उत्पादकता को ऊर्जा प्रदान करता है। यदि हम ऐसा नहीं करते तो इसका अर्थ यह होगा कि वह मैच शुरू होने से पहले ही हम उससे हार गए।

भूमंडलीकरण और इसके विकास के कुछ पहलुओ का विरोध विकासशील देशों तक ही सीमित नहीं है। विकसित देशो में भी ऐसे कुछ दबाव समूह या लॉबी सक्रिय हैं, जो इस आधार पर भूमडलीकरण का विरोध कर रहे हैं कि गरीब राष्ट्रों के साथ व्यापार बढ़ाने से उनके अपने यहाँ का श्रमिक वर्ग कमजोर होगा तथा नौकरियों और निवेशों के अवसरों मे कमी होगी, लेकिन इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है। यदि अमेरिका में श्रमिकों की नौकरियाँ छूटी हैं तो इसका कारण विकासशील देशों के साथ व्यापार में बढ़ावा नहीं, बल्कि यह है कि इन श्रमिकों ने अन्य उद्योगों के मुकाबले उत्पादन बढाने के लिए आवश्यक नए कौशल नहीं सीखे। दरअसल, कारण व्यापार नहीं, बल्कि आधुनिक सूचना-आधारित तकनीकी विधियो से युक्त निर्माण-प्रक्रिया है, जिसके तहत अकुशल श्रमिकों का स्थान कंप्यूटरों ने ले लिया, जिनके लिए कुशल श्रमिकों की जरूरत होती है।

अलबत्ता, विकसित देशो द्वारा भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को सहज बनाने के लिए बाल-श्रम और पर्यावरण के संबंध में जाहिर की गई चिंताओं का विरोध नही किया जाना चाहिए।

क्या पूर्वी एशियाई संकट का कारण भूमंडलीकरण था?

दक्षिण-पूर्वी एशिया के वित्तीय संकट को भी भूमंडलीकरण से उपजे संकटों में से एक माना जा रहा है। इस संकट को इस धारणा के प्रमाण के रूप मे पेश किया जा रहा है कि मौजूदा खराब हालत के लिए भूमंडलीकरण ही दोषी है, जिसने मदद करने की बजाय विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं को चौपट कर दिया। आबिद हुसैन का कहना है कि यह दोषारोपण बहुत ही सामान्य है। दरअसल, दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों की अर्थव्यवस्थाओं के ढहने और भूमंडलीकरण के बीच ऐसे किसी

सपर्क की पुष्टि नहीं की जा सकी है। सच तो यह है कि भूमंडलीकरण ने प्रौद्योगिकी और निवेश-प्रवाह को बढ़ाने तथा दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के बाजारों को खोले जाने की दिशा में काफी हद तक सहयोग किया है। यही कारण है कि अन्य कोई भी देश-समूह उतनी उपलब्धि हासिल नहीं कर पाया है, जितनी इतनी कम अवधि में दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों ने की है। भूमंडलीकरण से दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों को मिले फायदों का समर्थन करने के लिए पर्याप्त तथ्य और ऑकड़े उपलब्ध हैं। क्या कोई इस तथ्य से इनकार कर सकता है कि कोरिया तथा अन्य 'टाइगर' अर्थव्यवस्थावाले देशों ने भूमंडलीकरण की बदौलत ही विकास की ऊँची रफ्तार दर्ज की।

क्या इस बात पर किसी को कोई संदेह हो सकता है कि इन देशों की अर्थ व्यवस्थाओं की प्रगति में आए अधिकांश तकनीकी सुधार अमेरिका, जापान और जर्मनी जैसे देशों से हुए प्रौद्योगिकी-प्रवाह की वजह से ही संभव हो सके हैं, जो दरअसल भूमंडलीकरण की ताकतों के कारण हो सका? दक्षिण पूर्वी एशियाई संकट विश्व अर्थव्यवस्था के साथ घनिष्ठ जुड़ाव की वजह से नहीं, बल्कि प्रतिस्पर्धी बाजारों में आए बिखराव की उपज था और इस बिखराव ने संसाधनों के आवंटन में भ्रष्टाचार तथा अकुशलता को आमंत्रण दिया, जिसने आर्थिक कुशलता तथा प्रतिस्पर्धा की राह में बाधा डाली और निवेश की उत्पादकता को भी कम किया। इस संकट के कारण गैर-उत्पादक गतिविधियों में आवश्यकता से अधिक निवेश की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला, विदेशी पूँजी-प्रवाह को गलत दिशा दी गई तथा साथ ही 'हॉट मनी' पर अत्यधिक भरोसा करने से कई अन्य समस्याएं भी खड़ी हुई।

अकसर कहा जाता है कि भूमंडलीकरण के फायदे लेने तथा अपनी अर्थव्यवस्था और अपनी जनता के जीवन स्तर में सुधार के लिए भारत को रणनीति तैयार करनी होगी।

आर्थिक सुधारों की अधूरी कार्यसूची (एजेंडे) को पूरा करना

इसके लिए सबसे पहले आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया को नए सिरे से गति देने के साथ अधूरे एजेंडे को पूरा करना होगा। भारत दौड़ में पिछड़ रहा है, क्योंकि उसने सुधारों की प्रगति की रफ्तार धीमी कर दी है। पूँजी तथा उपभोक्ता वस्तुओं से संबंधित विवाद को खत्म करना होगा। साथ ही उद्यमियों को प्रौद्योगिकी, उत्पाद एवं बाजारों के चयन के मामले में अधिक आजादी देनी होगी। मजबूत बाजार के लिए सरकार का हस्तक्षेप होना जरूरी है, परंतु यह हस्तक्षेप बाजार की आजादी को

प्रतिबंधित करने के लिए नहीं होना चाहिए। सरकार को अन्य देशों के साथ प्रौद्योगिकी आदान प्रदान के स्तर पर संबंध तथा गठबंधन बनाने पर भी ध्यान देना चाहिए। घरेलू अर्थव्यवस्था में प्रगति के लिए उपयुक्त नीतियाँ सुनिश्चित करने तथा आर्थिक मुद्दों पर खुलापन रखने की जरूरत है, ताकि भूमंडलीकरण के अधिकतम लाभ बटोरे जा सकें।

कृषि को भी उद्योग के समान दर्जा

दूसरे, इस बात का कोई कारण नहीं है कि कृषि को उद्योग से भिन्न दर्जा दिया जाए। भारत में कृषि को विकास के लिए अधिक आजादी दी जानी चाहिए थी, ताकि किसानों को चयन के स्तर पर छूट मिले, परंतु देश में कृषि ही जंजीरों में जकड़ी हुई है। किसानों को मनपसंद फसल बोने की आजादी नहीं है। वे अपनी उपज स्वेच्छानुसार बेच नहीं सकते। बेहतर कीमत पाने के लिए वे अपना उत्पाद अंतरराष्ट्रीय बाजार में भी नहीं बेच सकते। ऐसे में सवाल उठता है कि किसानों को उनके अधिकारों से वंचित क्यों किया जा रहा है? जब उद्योग में आयात-निर्यात संबंधी प्रतिबंध कम हो रहे हैं तो कृषि के क्षेत्र में भी ऐसा क्यों नहीं हो सकता? यह क्षेत्र मुक्त व्यापार और भूमंडलीकरण के लाभों से वंचित है। यदि भारत में कृषि का यही हाल रहा तो हम इससे जुड़े कई उत्पादों के मामले में भूमंडलीकरण से होनेवाले लाभ नहीं ले पाएँगे। अब समय आ गया है कि भूमि सुधार, कृषि का बड़े स्तर पर आधुनिकीकरण आदि मुद्दों पर प्राथमिकता से विचार किया जाए। ऐसा करने से भारतीय कृषि क्षेत्र अंतरराष्ट्रीय बाजार में विजेता बनकर उभरेगा और भूमंडलीकरण के अधिक फायदे प्राप्त किए जा सकेंगे। हमें कृषि से जुड़े व्यावसायिकों को विश्व अर्थव्यवस्था का हिस्सा बनने की छूट देनी चाहिए।

अनुसंधान तथा विकास के लिए वैज्ञानिक आधार सुदृढ़ करना

एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य देश में अनुसंधान तथा विकास के वैज्ञानिक आधार को सुदृढ़ बनाने का है, क्योंकि भविष्य की प्रगति के लिए विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ही महत्त्वपूर्ण हैं। मौजूदा समय में हथियार, सेना या परमाणु बम किसी देश की ताकत का प्रतीक नहीं हैं। दरअसल, ज्ञान तथा सूचना ही वे ताकत हैं, जो लोगों को उनके जीवन की चुनौतियों का सामना करने के योग्य बनाते हैं। जो शासन-तंत्र विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास पर पर्याप्त संसाधनों का निवेश नहीं करता, वह इनपर भरोसा रखनेवाले दूसरे देशों से पिछड़ जाता है। यह जाना-माना

तथ्य है कि साक्षर आबादी किसी भी देश की प्रगति के लिए अपरिहार्य है। यदि आबादी का बड़ा हिस्सा शिक्षा के दायरे से बाहर रहता है तो इस स्थिति में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के लाभ समाज के एक वर्ग तक ही सीमित होकर रह जाते हैं।

शासन में पारदर्शिता

हमें शासन-व्यवस्था में पारदर्शिता के महत्त्व को भी स्वीकार करना होगा। गोपनीयता की प्रणाली समाप्त होनी चाहिए तथा विकास की प्रक्रिया में भागीदार लोगों को विश्वास में लेने के उपाय करने चाहिए। व्यापार तथा विकासात्मक गतिविधियाँ खत्म की जाएँ। शीघ्र लेन-देन सुनिश्चित करने के लिए व्यवस्था को गतिशील बनाया जाना चाहिए। दरअसल, शासन में अपारदर्शिता और लेन-देन में देरी से एक ऐसा दुष्चक्र जन्म लेता है जो भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद आदि को बढ़ावा तो देता ही है, साथ ही-साथ घरेलू तथा अंतरराष्ट्रीय बाजारों में प्रतिस्पर्धा की राह में रुकावटें भी खड़ी करता है।

विश्व व्यापार संगठन में भारत की कारगर भूमिका

एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य बहुराष्ट्रीय संगठनों में सुधार तथा उन्हें लोकतांत्रिक बनाने के लिए मंच तैयार करने से संबंधित है। भूमंडलीकृत विश्व में न्याय तथा नियमानुसार लेन-देन सुनिश्चित करने के लिए अंतरराष्ट्रीय नियम व संस्थान होने चाहिए। इनके बगैर नई व्यवस्था के लाभ हम तक नहीं पहुँचेंगे और हम स्थायी रूप से हाशिये पर पड़े रहेंगे। वैश्विक अर्थव्यवस्था के मार्ग-प्रदर्शन के लिए अंतरराष्ट्रीय नियम होने जरूरी हैं। विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता तथा इसमें प्रभावी भागीदारी से ही वह सुनिश्चित किया जा सकता है।

भारत को विश्व व्यापार संगठन का प्रभावी सदस्य बनकर अपने तथा अन्य विकासशील देशों के हितों की वकालत जमकर करनी चाहिए। निष्पक्ष वैश्विक नियमों, विनियमनों तथा सुरक्षा उपायों के निर्धारण में भी भारत को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए, ताकि प्रतिकूल व्यवहार को रोका जा सके। हमें केवल विकसित देशों द्वारा प्रस्तुत मुद्दों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने तक ही सीमित न रहकर स्वयं अपने स्तर पर सक्रिय रहना चाहिए।

इसी प्रकार हमें क्षेत्रीय व्यापारिक समूहों के साथ प्रगाढ़ संबंध विकसित करने की नीति तैयार करनी चाहिए, ताकि हम उनसे प्राप्त होनेवाले लाभों से वंचित न रह जाएँ। दरअसल, मुक्त वैश्विक व्यापार प्रणाली के तहत इस प्रकार की क्षेत्रीय

व्यवस्था स्वागतयोग्य है। मध्यांतर में ये मुक्त व्यापार को नुकसान पहुँचा सकते हैं या उन्हें समाप्त कर सकते हैं। इसलिए जहाँ कहीं भी ऐसे समूह मुक्त और खुले व्यापार की राह में बाधा बनें, वहाँ क्षेत्रीय व्यवस्था के मुकाबले वैश्विक नियमो की प्रमुखता सुनिश्चित करनी चाहिए। दक्षिणी-एशियाई वैश्विक व्यवस्था कायम करने का भारत का प्रयास स्वागतयोग्य है, लेकिन ऐसा वैश्विक व्यवस्था के प्रति हमारी वचनबद्धता की कीमत पर नहीं किया जाना चाहिए।

सरल शब्दों में कहें तो भूमंडलीकरण किसी देश की अर्थव्यवस्था को वैश्विक अर्थव्यवस्था से जोड़ने की प्रक्रिया है। भूमंडलीकरण के अंदर ये चार बाते समाहित हैं — 1. राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार वस्तुओं के मुक्त प्रवाह को सुनिश्चित करने के लिए व्यापार-बाधाओं में कमी 2. ऐसे माहौल का निर्माण करना जिसमे पूँजी प्रवाह आसानी से हो सके; 3 प्रौद्योगिकी के बेरोक-टोक प्रवाह के लिए वातावरण बनाना तथा 4. विकसित देशो के नजरिए से ऐसे वातावरण का निर्माण करना जिसमें विभिन्न देशों के बीच श्रमिकों की मुक्त रूप से आवाजाही सुनिश्चित हो। भूमंडलीकरण की वकालत करनेवाले, विशेषकर विकसित देशो के समर्थकों ने भूमंडलीकरण की परिभाषा को तीन तत्त्वों तक सीमित कर दिया है। वे हैं—बेरोक-टोक व्यापार-प्रवाह, पूँजी-प्रवाह तथा प्रौद्योगिकी-प्रवाह। वे विकासशील देशों पर इनकी परिभाषा स्वीकार करने पर जोर देते हैं और चाहते हैं कि इस विषय पर बहस उनके द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर ही हो; परंतु विकासशील देशों के कई अर्थशास्त्री इस परिभाषा को अधूरा समझते हैं। उनका मानना है कि वैश्विक ग्राम की कल्पना तभी साकार हो सकती है, जब चौथे तत्त्व, अर्थात् 'श्रमिकों को मुक्त रूप से आवाजाही' को भी इस परिभाषा में शामिल किया जाए, परंतु विश्व व्यापार संगठन या अन्य मंचों पर होनेवाली तमाम बहसों में प्रायः 'श्रमिक-प्रवाह' को भूमंडलीकरण के आवश्यक तत्त्व के तौर पर शामिल ही नहीं किया जाता।

व्यापार तथा शुल्क संबंधी सामान्य समझौते (गैट) का उरुग्वे दौर और बाद की प्रगति

अंतिम अधिनियम मे निहित दिशा-निर्देशों के अनुसार 1 जनवरी, 1995 को विश्व व्यापार संगठन की स्थापना हुई और 30 दिसंबर, 1994 को विश्व व्यापार संगठन समझौते की पुष्टि कर भारत इसका संस्थापक सदस्य बना। विश्व बैंक, ओ.ई.सी.डी. तथा गैट सचिवालय के अनुमानों के अनुसार, उरुग्वे दौर की वार्त्ता के बाद सन् 2005 तक कुल व्यापार में 745 अरब डॉलर की बढ़ोतरी होगी। गैट

सचिवालय के मुताबिक, सबसे अधिक तेजी कपड़े (60 प्रतिशत), कृषि, वानिकी तथा मत्स्य उत्पादों (20 प्रतिशत) और प्रसंस्कारित औद्योगिक उत्पाद सेक्टर (19 प्रतिशत) के क्षेत्रों में दर्ज होगी। आर्थिक सर्वेक्षण (1994-95) के मुताबिक, 'चूँकि भारत की मौजूदा और निर्यात प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता इन क्षेत्रों में ही है, इसलिए यह कहना तार्किक होगा कि हमें इन क्षेत्रों में अधिक लाभ होगा। यदि यह माना जाए कि विश्व निर्यात में भारत के बाजारों का हिस्सा 0.5 प्रतिशत से 1 प्रतिशत तक है और हम नए अवसरों का लाभ उठाने की स्थिति में होंगे तो परिणाम हमें निर्यात व्यापार में 2.7 अरब अमेरिकी डालर का अतिरिक्त लाभ हो सकता है। एक अन्य आकलन में 3.5 से 7 अरब अमेरिकी डॉलर तक लाभ होने की बात कही गई है।'

भारत नियम आधारित ऐसी व्यापार प्रणाली को सर्वाधिक महत्त्व देता आया है, जहाँ समान सिद्धांतों का पालन हो तथा व्यापार को मुद्दों से न जोड़ा जाए।

□□□